"आत्मविलास का एक अध्ययन"

"A STUDY OF ĀTMAVILĀSA"

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू-विश्वविद्यालय
की एम० फिल० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-निबन्ध

**A DISSERTATION SUBMITTED FOR THE AWARD OF
M. PHIL. DEGREE OF POST GRADUATE
DEPARTMENT OF SANSKRIT
JAMMU-UNIVERSITY, JAMMU**

निर्देशक :
डा० जगीर सिंह
(एम. ए., एम. फिल; पी. एच. डी.)
प्राध्यापक; स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू-विश्वविद्यालय, जम्मू ।

शोधकर्ता :
कुलभूषण शर्मा

जनवरी–1990

2nd copy

২/২.

"आत्मविलास का एक अध्ययन"

"A STUDY OF ĀTMAVILĀSA"

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग जम्मू-विश्वविद्यालय
की एम० फिल० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-निबन्ध

A DISSERTATION SUBMITTED FOR THE AWARD OF
M. PHIL. DEGREE OF POST GRADUATE
DEPARTMENT OF SANSKRIT
JAMMU-UNIVERSITY, JAMMU

शोधकर्ता :
कुलभूषण शर्मा

निर्देशक :
डा० जगीर सिंह
(एम. ए., एम. फिल; पी. एच. डी.)
प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
जम्मू-विश्वविद्यालय, जम्मू ।

मार्च, -1990

CERTIFICATE

It is certified that Mr.Kul Bhushan Sharma has worked under my supervision and guidance for Degree of M.PHIL. Sanskrit on the topic entitled 'A STUDY OF ĀTMAVILĀSA'.

It is further furnished that :-

1. The dissertation of Mr.Kul Bhushan Sharma entitled 'A study of Ātmavilāsa' embodies the work of the candidate himself.
2. That the candidate worked under me for the period required under statutes of the Jammu University Jammu
3. That he has put in the required attendance in the Post Graduate Department of Sanskrit, Jammu University during that period.

Jagir Singh
Dr. Jagir Singh
Lecturer
Post Graduate Department of Sanskrit
Jammu University Jammu.

March, 1990

Forwarded
20-3.90

Professor & Head
Post Graduate Department of Sanskrit
Jammu University

विषयानुक्रमणिका

संकेत - सूची

1. अ0	अध्याय
2. आ0वि0	आत्मविलास
3. आ0भै0	आनन्द भैरव
4. ईशा0उप0	ईशावास्योपनिषद्
5. ई.प्र.का.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका ।
6. ई.प्र.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका विमर्शिनी ।
7. चा.सू.	चार्वाक सूत्र ।
8. छां,उप.	छान्दोग्योपनिषद् ।
9. तं.आ.	तन्त्रालोक
10. तं. सा.	तन्त्रसार
11. ना.ना.	नागानन्द नाटक
12. न्या,सू.वा.भा.	न्याय सूत्र वात्स्यायन भाष्य
13. प.यो.द.	पातञ्जल योग दर्शन
14. प्र.हृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।
15. परा.त्रिं.	परात्रिंशिका ।
16. परा.प्रा.	पराप्रावेशिका ।
17. बो. पं.	बोधपञ्चदशिका ।
18. बृहद्.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद् ।
19. ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य ।
20. भ.गी.	भगवद्गीता ।
21. मा.वि.तं.	मालिनीविजय तन्त्र ।
22. याज्ञ.स्मृ.	याज्ञवल्क्य स्मृति
23. यो.वा.रा.	योगवशिष्ठ रामायण ।

24. रघु.	रघुवंश ।
25. वै.सू.	वैशेषिक सूत्र
26. श्लो.	श्लोक
27. शि. दृ.	शिव-दृष्टि ।
28. शि.सू.	शिवसूत्र
29. शि.स्तो.	शिवस्तोत्रावली ।
30. स्प.का.	स्पन्दकारिका ।
31 स्व.तं.	स्वच्छन्द तन्त्र ।
32. सिद्धमहा.का.	सिद्धमहारहस्यकारिका ।
33. सौ.ल.	सौन्दर्य लहरी ।
34 सां. का.	सांख्यकारिका ।
35 हि.सुभा.	हितोपदेश सुभाषितानि
36. द्वि.सं.	द्वितीय संस्करण ।
37. वि.सं.	विक्रमी सम्वत् ।

ॐ

श्री पराशक्तिर्विजयते श्री

प्राक्कथन

" भारती भाति भारतम्" अर्थात् - जड़ चेतन समस्त विश्व, [illegible] में वह एकमात्र परमसत्ता ही उद्भासित हो रही है । तथापि इस जगत् में कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई निर्धन है, कोई राजा है, कोई [illegible] कोई दीर्घायु, तो कोई अल्पायु है ? इस समस्त वैचित्र्य को देखकर [illegible] यह स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इस के पीछे क्या रहस्य है ? [illegible] सभी प्राणी त्रिविध दुःखों से किसी न किसी प्रकार दुःखी [illegible] दुःखों से छुटकारा पाना चाहते हैं और ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक [illegible] को प्राप्त करना चाहते हैं । भारतीय दर्शन का मूल उद्देश्य [illegible] एवं मोक्ष की प्राप्ति है । इसमें आत्मा - परमात्मा, जीव [illegible] इत्यादि सभी तत्त्वों पर सूक्ष्मान्वेषण किया गया है । [illegible] के साथ - साथ उन के आध्यात्मिक सात्तत्त्व का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म [illegible] किया गया है ।

एम० ए० के पाठ्यक्रम के परिप्रेक्ष्य में [illegible] स लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म काश्मीर शैव दर्शन को पढ़ने का सुअवसर मिला । [illegible] चार्वाकादि दर्शन की बात तो दूर रही, प्रत्युत वेदान्तादि दर्शन की विचार-धारा भी सर्वाङ्गीण रूप से जगत् के रहस्यों का समाधान करती हुई प्रतीत नहीं हुई । इनके विपरीत शैवदर्शन के सिद्धांत युक्तियुक्त और [illegible] ढ़ंग से प्रतिपादित हुए मिले । जिससे मन में जिज्ञासा हुई कि [illegible] की प्राप्ति के लिए इस दर्शन के सिद्धान्तों को जानना [illegible] एम० ए० की उपाधिप्राप्ति के पश्चात् एम० फिल० में प्रवेश लिया और [illegible] शैवदर्शन के क्षेत्र में कार्य करने का दृढ़ निश्चय किया । इसी [illegible] [illegible] आचार्य डॉ० जगीर सिंह जी से परामर्श किया और उन्होंने मुझे [illegible]

"आत्मविलास" पर काम करने का सुझाव दिया । जिस पर " [illegible]
एम0 फिल0 समिति" ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की । यद्यपि इस का [illegible]
बड़ा विशद, गम्भीर एवं दीर्घकालापेक्षी है, तथापि डॉ0 [illegible]
के सफल निर्देशन में अत्यन्त अल्पावधि में ही इस के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान [illegible]
गया । अतः इसमें जो कुछ भी विषय की चमत्कृति है, वह उन्हीं [illegible]
ही है और इस में जो न्यूनता रह गई हो, तो वह मेरे ही [illegible]
कारण हो सकती है । इसलिए मैं उनका बड़ा हार्दिक आभारी हूँ । [illegible]
में साक्षात् पराशक्ति ही गुरु के हृदय में प्रवेश करके शिष्य के अज्ञान [illegible]
का नाश करती है एवं अपनी कृपादृष्टि से उसको परामृतरसरूप अभेद [illegible]
करती है । इसीलिए अगाध संशय (अज्ञान) रूपी सागर से पार उतारने वाली
ज्ञानरूपी नौका रूप, विचित्र अर्थपदों से युक्त, परिपूर्ण, [illegible] [2]
को कोटिशः हार्दिक अभिनन्दन अभिव्यक्त करता हूँ ।

प्रस्तुत शोध निबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है ।

प्रथम अध्याय में श्रीमदमृतवाग्भव आचार्य के जीवन - परिचय, स्थितिकाल एवं व्यक्तित्व पर यथासम्भव तर्कसंगत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में आचार्य की दर्शन, धर्म, राजनीति, एवं अभितपरक लगभग बत्तीस मुख्य कृतियों में प्रतिपादित विषयों का [illegible] में वर्णन किया गया है ।

---

1. क) परमेश्वरी हि गुरुमूर्तिमाविश्य अनुग्राह्यान् स्वप्रत्[illegible] प्रबोधयति (स्व॰ का॰ [illegible])

ख) शक्तिचक्रं तदेवोक्तं गुरुवक्त्रं तदुच्यते -(शि॰ सू॰ वृ॰ 10 ।)

ग) गुर्वी पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः । — तदेव

2. अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।। (
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् (सा॰ का॰ [illegible] ।

तृतीय अध्याय में आचार्य की सब से प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृति " आत्मविलास" में प्रतिपादित वर्ण्यविषय का तर्कसंगत विश्लेषण करके दिखला दिया गया है । इस में मुख्यरूप से नामकरण, आत्मा का स्वरूप, आत्मा के सच्चिदानन्दस्वरूप की सिद्धि, आत्मा की विविध नामों से [illegible], स्वातन्त्र्यवाद, अन्यमत - खण्डन तथा स्वातन्त्र्यवाद का मण्डन, महाविद्या, पूर्णनैर्मल्य, पूर्णकर्तृत्व, मलविचार, तत्त्व विचार, जीवन्मुक्त, बन्ध - मोक्ष तथा कर्म - अकर्म विचार एवं पूर्ण नैर्मल्य/ स्वातन्त्र्य प्राप्ति का उपाय - इत्यादि के सम्बन्धी आचार्य के मत का विवेचन किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में " कश्मीर शैवदर्शन और अमृतवाग्भवाचार्य " शीर्षक के अन्तर्गत कश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों एवं शास्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार्य के सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके उन में समानता को प्रदर्शित किया गया है ।

पञ्चम अध्याय में समस्त शोध निबन्ध के प्रतिपाद्य विषय का उपसंहार किया गया है । तथा आत्मोत्थान एवं विश्वशान्ति के लिए आचार्य के प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया गया है ।

इस शोध-निबन्ध के कार्य को पूर्ण करने में प्रमुख सहयोग देने के अधिकारी महानुभाव पराशक्तिकृपादृष्टिलब्ध डॉ० जगीर सिंह जी हैं । उन्हीं के ज्ञानपूर्ण निर्देशन तथा स्नेहयुक्त व्यवहार से मैं अपने शोधकार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में समर्थ हो सका हूँ ।

उनके प्रति मात्र केवल आभार प्रकट करने से ही मैं ऋण से मुक्त नहीं हो सकता हूँ, परन्तु फिर भी औपचारिक रूप से उनके लिए कृतज्ञता प्रकट करना अपना उदार कर्त्तव्य समझता हूँ ।

इस शोधकार्य की अवधि में प्रो० वेद कुमारी घई, प्रो० कौशल्या वल्ली प्रो० राम प्रताप, डॉ० महेश शर्मा, डॉ० केदार नाथ शर्मा, एवं संस्कृत विभाग के प्राध्यापकों ने जो सम्पूर्ण रूप से सहयोग दिया, वह अविस्मरणीय है ।

उनके प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ ।

विभागीय कार्यालय के कर्मचारी वर्ग एवं टंकक लिपिक सुशील कुमार जी का धन्यवाद करता हूँ । अपने विभाग के पुस्तकालय के अधिकारी "श्री विजय वड़ियाल " और जनक कुमार का भी धन्यवादी हूँ । वे मुझे समय - समय पर वांछित पुस्तकें उपलब्ध करवाते रहे । इसके अतिरिक्त अपने शोधछात्र वर्ग का भी सहयोग बड़ा प्रशंसनीय है ।

अपने माता - पिता [श्रीमती विनतीकुमारी एवं श्री ...] और भाईयों के प्रति भी बड़ा आभारी हूँ, जिन्होंने समय - समय पर मेरी आवश्यकताओं को पूरा किया और मुझे शोध कार्य करने की आज्ञा दी । अपने मामा [श्री कृष्णलाल शर्मा] जी का भी बड़ा आभारी हूँ, जो मुझे समय - समय पर अध्ययन हेतु मेरा मार्गदर्शन करते रहे । मैं संजय एवं उसके माता - पिता [श्रीमती तारा देवी एवं श्री ध्यानचन्द] जी का भी धन्यवाद करता हूँ उन्होंने मुझे इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया जो कि अतुलनीय है । परमविद्वान डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित, दिल्ली उच्च - न्यायालय एवं सर्वोच्च न्यायालय के प्रतिष्ठित कर्मचारी क्रमशः रतनलाल जैन, ओम प्रकाश शर्मा एवं ... प्रसाद शर्मा का भी यथासम्भव सहयोगार्थ आभारी हूँ ।

मैं आभार प्रकट करता हूँ विश्व हिन्दू परिषद् के कार्यकर्ताओं का, विशेषतः माननीय पुरुषोत्तम दधीचि जी का, जिन्होंने मुझे इस अवधि में कार्यालय में शरण दी और वहीं पर शिव - पार्वती के चरणों में बैठकर मैंने अपना अध्ययन एवं शोध-कार्य सम्पूर्ण किया ।

श्री तेजराम जी का भी धन्यवाद करता हूँ जो मुझे विश्व हिन्दू परिषद् कार्यालय में रहते हुए अपना सहयोग देते रहे । इसके अतिरिक्त उन सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने उपदेशों अथवा कृतियों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में शोधकार्य के लिये सहायता दी ।

सविनय पराभगवती से समस्त विश्व-कल्याणार्थ प्रार्थना कर विद्वज्जनों से शोध-कार्य की सफलता हेतु आशीर्वाद आकांक्षी --

- विनीत -
कुल भूषण शर्मा
कुल-भूषण शर्मा

मार्च, [illegible] - 1990

प्रथम अध्याय

श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य का जीवन परिचय - स्थितिकाल एवं व्यक्तित्व :

मानव एक मननशील प्राणी है । जब वह इस पावन धरती पर अवतरित होता है, तो उसके मन में कुछ न कुछ करने की अभिलाषा स्वभावतः होती है । वह किसी न किसी प्रकार अपने भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है । सभी प्राणियों की भिन्न - भिन्न रुचि होती है । कोई शुभ प्रवृत्ति का होता है, कोई अशुभ वाला । किसी की रुचि संगीत में होती है, तो किसी की नृत्यादि कलाओं में होती है । लेकिन समाज में उसी व्यक्ति का जीवन सार्थक माना जाता है, जिसकी रुचि - भले ही वह कोई भी कार्य करे - परोपकार की भावना से युक्त हो । इसीलिये कहा गया है -

" जननी जने तो भक्तजन, या दाता या शूर ।
नहिं तो जननी बांझ भली, काहे गंवाए नूर ।।

वास्तव में ऐसा व्यक्ति ही महान् होता है और उसकी ही सर्वत्र प्रशंसा होती है, जबकि राजादि का सम्मान तो केवल एककालिक एवं एकदेशिक ही होता है ।[1]

ऐसी ही महान् एवं विद्वान् विभूतियों में से एक प्रकाण्ड विद्वान् एवं धार्मिक प्रवृत्तिवान् विभूति के रूप में पूज्यपाद स्वामी अमृतवाग्भव आचार्य ने भी इन सभी प्रकार के गुणों से विभूषित होकर इस धरती पर जन्म लिया और अपनी प्रतिभा एवं दिव्य ज्ञान के माध्यम से जगत् का परोपकार किया ।

---

1. विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।। (हि.सुभा. 13)

जीवन परिचय एवं स्थितिकाल :

आचार्य के जीवन, काल एवं स्थान आदि के विषय में परिपूर्ण रूप में जानकारी इन की कृतियों से उपलब्ध नहीं होती है, परन्तु अंशतः परिचय उपलब्ध हो ही जाता है । इस का यत्किञ्चित्‌रूप इस प्रकार है :-

वंश - परम्परा :

आचार्य के अपने कथनानुसार वह एक अति कुलीन, विद्वान् एवं [illegible] ब्राह्मण सत्कुल में उत्पन्न हुये थे, जो विप्रों में अग्रगण्य था । इनका जन्म-[illegible] गङ्गा - यमुना का पवित्रतम तथा पुण्य मध्यभाग अर्थात् - अन्तर्वेदी था ।

इनके अन्तरंग एवं पट-शिष्य डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित के कथन के अनुसार परम पूज्य श्रीमद् अमृतवाग्भव आचार्य का जन्म हिन्दुओं के [illegible] पवित्र तीर्थस्थल तीर्थराज प्रयाग में 1903 ई॰प॰ में हुआ, जो भगवती गङ्गा, यमुना और सरस्वती का पावन सङ्गम-स्थल है । इस सर्वदेवमयी तपोपूत वसुन्धरा की गोद में अठखेलियाँ करते हुये ही इनका जीवन - पुष्प अङ्कुरित हुआ । इनकी माता का नाम राधा था और पिता श्री कृष्ण शास्त्री वर्कले थे । विधाता को इनका मातृ - स्नेह प्रिय नहीं था, अतः इनकी अतीव अल्पायु अर्थात् तीन वर्ष की अवस्था में ही इन्हें उनका विछोह झेलना पड़ा । इस के एक वर्ष पश्चात् ही इनके पिता ने शिशु के पालन - पोषण की कठिनाई और गृहस्थी के सुचारू रूप से संचालन को ध्यान में रखते हुये दूसरा विवाह कर लिया ।

इनकी विमाता के गर्भ से इन के अनुज का जन्म हुआ, जिस का नाम रामचन्द्र वर्कले था । अमृतवाग्भव का बाल्यकाल का नाम [illegible] था ।

1· क॥ अन्तर्वेदि समुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः ।
पङ्क्तिपावन विप्राणामुत्पन्नो विदुषां कुले ।। [illegible] आ० वि० 1/2 .

ख॥ " विद्वद् ब्राह्मणसत्कुलोद्भव वपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं" [illegible]

इनके पिता महाराष्ट्री ब्राह्मण थे जो विदर्भ के रहने वाले थे । इनका एक पूर्वज बनारस में रहता था । इसलिए यह भी वहाँ जाकर बस गए । इनके पिता बड़े विद्वान्, तपस्वी और सर्वशास्त्र मर्मज्ञ थे । वह विशेषकर कला-शास्त्र के विशेषज्ञ थे तथा संगीतादि कलाओं को भी जानते थे । इस प्रकार यद्यपि इनको मातृ - स्नेह से वञ्चित रहना पड़ा, तथापि विद्वान् पिता के सान्निध्य से इनपर ज्ञान का विशेष प्रभाव पड़ा ।

विद्याध्ययन एवं जीविकोपार्जन :

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा - दीक्षा "क्वीन्ज़ कालेज" बनारस में सम्पन्न हुई, जो आज-कल " सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से विख्यात है । विधाता को इनके पिता की छत्र - छाया भी अभिप्रेत नहीं थी, इसलिए इनकी बारह वर्ष की अवस्था में ही वह भी शिवधाम को प्राप्त हो गये ।

पिता की मृत्यु हो जाने एवं घर में कोई भी अन्य व्यक्ति आजीविका का भार वहन करने वाला न होने पर भी, इन्होंने जीवन यात्रा के लिये किसी दूसरे के आगे हाथ नहीं फैलाये । यह स्वाभिमानी स्वावलम्बी और अथक परिश्रमी थे । जिस किसी कार्य को भी हाथ में लेते थे, उसके प्रति पूर्ण समर्पितभाव से तल्लीन हो जाते थे । अपने इस नैसर्गिक गुण के बल पर इन्होंने अपने चाचा " मयूरेश्वर वर्ति ", से संस्कृत का अध्ययन किया और अपनी कुशाग्र बुद्धि के प्रभाव से शीघ्र ही उसमें निष्णात हो गये । इसी कारण इन को छात्रावास से "प्रतीक्षा" का पारिश्रामिक मिल जाता था । इस के अतिरिक्त इन को पाँच रुपये मासिक छात्रवृत्ति भी मिल जाती थी । इनके माध्यम से यह गृहकार्य का सुचारु से प्रबन्ध कर लेते थे । आर्थिक दशा शोचनीय होने पर भी यह दान एवं भिक्षादि लेने को गर्हित कर्म समझते थे । अतः अपने बल-पौरुष पर उपार्जित द्रव्य से ही निर्वाह करते थे ।

गुरू-परम्परा एवं शाम्भवी - दीक्षा :

इनके सवर्णिम आध्यात्मिक युग का श्रीगणेश सोलह वर्ष की प्राप्ति पर हुआ, जब अध्ययन के क्रम में उनके सामने एक अतीव विकट समस्या उपस्थित हो गई, जिसे वे अपने अभ्यस्त विधा - क्रम से सुलझा नहीं सकते थे । उपनयन संस्कार के अवसर पर उन्हें अपने पूज्य पिताजी से श्रीविद्या की दीक्षा मिली थी । अतएव उस उपस्थित समस्या को सुलझाने के उपाय को हाथ में लाने के निमित्त से उन्होंने अपनी इष्ट देवी की विशेष आराधना को आरम्भ किया । इष्ट देवी के अनुग्रह से उन्हें चालीसवें दिन अर्धरात्रि और उषा: काल के मध्य में अपने पूजा के कमरे में महामुनि भगवान् दुर्वासा के साक्षात् दर्शन हुये । महामुनि ने उन्हें शाम्भव - योग की उत्कृष्टतम प्रक्रिया सांगोपांग सिखा दी । उसी योग के अभ्यास से एक तो उन्हें अनायास ही अध्ययन मार्ग में उपस्थित बाधा दूर हो गई और दूसरी ओर अभ्यास करते रहने पर सिद्धों की उत्कृष्ट परम - अद्वैतमयी दर्शन विद्या के सिद्धान्तों की साक्षात् अनुभूति भी हो गई । शैव दर्शन के छत्तीस तत्त्वों का सामान्य ज्ञान उन्हें अपने पूज्य पिताजी से पहले से ही प्राप्त हो चुका था और भगवान दुर्वासा द्वारा प्रदत्त शाम्भव -योग के अभ्यास से तब इन तत्त्वों का क्रियात्मक रूप से अनुभव हो गया ।

इस अनुभव का जगत् - कल्याण के लिये एवं परमशिव के सन्तोष के लिये " परमशिव स्तोत्र" के रूप में प्रकटाव किया । इस अनुभव के फलस्वरूप उन्होंने इस स्तोत्र के अतिरिक्त बहुत - सी अन्य रचनायें स्तुतिपरक, दर्शनशास्त्र विषयक, भक्तिपरक, राजनीतिपरक, [illegible] - तथा प्रशस्तियों आदि के रूप में लिखीं ।

सम्पादकत्व :

आचार्य ने व्याकरणशास्त्र का भी विधिवत् अध्ययन किया था । इस के साथ - साथ धर्मशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया था, प्रत्युत उस में आचार्य पदवी को भी प्राप्त किया था । जहाँ तक कि पुस्तकालय में वे सम्पादक के कार्य को भी सुचारू रूप से चलाते थे, जिस से उनका [illegible] अध्ययन एवं जीविकोपार्जन क्रम भी चलता रहा । इस कार्य में इन के प्रेरक [illegible] महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज थे । अनुसंधान के क्षेत्र में [illegible] मार्गदर्शन विशेष लाभप्रद रहा । अनुसन्धान के कार्य में उनको पहले बारह रुपये, फिर पन्द्रह रुपए मासिक मिलते थे और तत्पश्चात् बीस रुपए मासिक मिलते रहे ।

विवाह एवं गृह त्याग :

अनुसन्धान के कार्यक्षेत्र के मध्य में उन का विवाह एक धनाढ्य परिवार की रूपवती कन्या से हो गया । परन्तु महापुरुषों के कथनानुसार विवाह और मैत्री समान कुल वालों के ही सफल होते है । इस के विपरीत होने पर प्राय: असफलता, निराशा एवं दु:खों को ही झेलना पड़ता है । आचार्य के भाग्य में भी इसी प्रतिकूलता का फल बंधा था । फलस्वरूप धनाढ्य ससुराल वालों ने आचार्य की आर्थिक दुर्दशा की खिल्ली उड़ाते हुए उन का तिरस्कार किया और कन्या को उनके यहाँ न भेजना ही उचित समझा । आचार्य ने भी तुलसीदास जी के कथनानुसार -

" आवत हिय हरषे नहिं, नैनन नहिं स्नेह ।
तुलसी तहाँ न जाईए कन्चन बरसे मेह ।। "

ससुराल वालों के साथ सम्बन्ध बनाये रखना उचित [illegible]

---

1. अन्योन्यदर्शनकृत: समानरूपानुरागकुलवयसाम् ।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ।। [illegible]

प्रत्युत जिस प्रकार तुलसीदास की पत्नी द्वारा-

अस्थि चर्ममय देहममता में ऐसी प्रीति,
तैसी जो श्री राम महा होत न भवभीति ।
लाज न लागत आप को दोरे आयहु साथ,
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहूँ मैं नाथ ।।

तिरस्कृत होने पर उनका सांसारिक मोह उत्कट वैराग्य में परिवर्तित होकर राम- भक्ति में परिणत हो गया था, उसी प्रकार ससुराल वालों की ओर से इनका तिरस्कार इनके उत्कट वैराग्य का रूप धारण कर इनके परिव्राजकत्व का कारण बना और इन्होंने गृह त्याग कर दिया । इस प्रकार इनका विवाह एक लौकाचारिक परम्परामात्र होने से ये आजीवन ब्रह्मचारी ही रहे । आचार्य अपने वैवाहिक जीवन के वैफल्य के सम्बन्ध में कहा करते थे कि उन्होंने श्रीविद्या की उपासना से भगवती का साक्षात्कार किया था और कोई भी कार्य करने से पहले उनका ध्यान करके दैविक प्रेरणा ले लेते थे । परन्तु इस विवाह के सम्बन्ध में आज्ञा लेने हेतु उन्होंने भगवती का स्मरण न करने की भूल की थी, जिसके फलस्वरूप उनका वैवाहिक जीवन अधूरा रहा । वैसे वह एक बार सन् 1953 ई० में वृन्दावन, जहाँ ये परिव्राजक वेश में ही थे, इन से मिलने आई । परन्तु इनके तप, तेज से प्रभावित होकर उसने इन से योग दीक्षा ले ली और तपस्विनी बन गई ।

भ्रमण :

आचार्य ने अपने परिव्राजक जीवन में उत्तर - प्रदेश, पंजाब हिमाचल, हरियाणा और जम्मू - कश्मीर आदि प्रदेशों का अपनी शिक्षा के प्रचार - प्रसार के लिये भ्रमण किया । अपने योगबल से विविध तीर्थों के दर्शनकाल में तत्सम्बन्धी देवताओं के साक्षात् दर्शन किये । इन्हीं दर्शनों के मध्य में कश्मीर - प्रदेश में बारामूला नगर में भगवती क्षेमपुरी के मन्दिर में जो दर्शन इन्हें प्राप्त हुआ, इनके अनुसार वह एक चिद्रूप दर्शन जैसा था । इन्होंने उस दर्शन को आत्मसाक्षात्कार की अनुभूति कहा है ।

[illegible] अपने भ्रमण विषयक अनुभव के विषय में वर्णन करते हुये कहते हैं कि उन्हें कश्मीर देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी और इसीलिये वह कुछ देर के लिये आत्मानन्द - रस की अनुभूति करते हुये वहाँ रहे।[1] वहाँ पर कपाल-मोचन तीर्थ के दर्शनोपरान्त उसके थोड़ी दूर स्थित " हवाल" नामक ग्राम में रमणीय स्थल एवं कुल्या के सौन्दर्यवर्धक दृश्य से प्रभावित होकर कुछ [illegible] रहे[2]। उनका कहना है कि उस ग्राम में ब्राह्मण लोग रहते हैं जो उस कुल्या में स्नान पानादि समस्त क्रियाएं करते थे[3]। वहाँ पर महागणेश एवं भगवती "क्रीडा" का मन्दिर भी है, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये वहाँ प्रकट हुई थी[4]। यहीं पर उन्होंने कण्ठभट्ट नामक ब्राह्मण की प्रार्थना से द्रवित होकर उमापति महादेव की प्रसन्नता और जगत् - कल्याण के लिये[5] " आत्मविलास" नामक अपनी प्रसिद्ध रचना सन् 1930 ई॰ [illegible][6]

---

1. प्रसङ्गतश्च समायातः कश्मीरालोकनोत्सुकः ।
   उवास कञ्चित् समयं स्वानन्दरस निर्भरः ।। (आ॰ वि॰ 7/4)
2. ग्राम हवाल इत्याख्ये शुभे कश्मीर मण्डले ।
   कपालमोचनात्तीर्थादुदीच्यां सार्धयोजने ।। (तदेव - 7/5)
3. रमण्यामत्यधिगता कुल्या यत्र विराजते
   ग्रामीणविप्रैः संसेव्या स्नानपानादि कर्मसु ।। (तदेव 7/6)
4. महागणेशो यत्राऽऽस्ते क्रीडाभगवती च सा ।
   प्रकटीभूय भक्तानामनुग्रह चिकीर्षया ।। (आ॰ वि॰ 7/7)
5. तत्रत्यं " कण्ठ भट्टाख्य ब्राह्मण प्रार्थनाद्रुतः ।
   ग्रन्थमात्म विलासाख्यं जग्रन्थ सुमनोरमम् ।। (तदेव 7/8)
6. श्रीमद्विक्रमभूपतेश्चगते सिंहाधिपे वत्सरे मासि श्रावण संज्ञके
   सितचतुर्दश्यां भृगोर्वासरे ।
   विद्वद्ब्राह्मण सत्कुलोद्भववपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं, जग्रन्था [illegible] वैदुषा
   स्वान्ते सुधास्यन्दिनम् (तदेव - [illegible])

राजसम्मान :

आचार्य की सर्वतोन्मुखी प्रतिभा एवं ज्ञान की परिपक्वता से प्रभावित होकर अनेक राजाओं ने इनको सम्मान दिया, आश्रय देने की प्रार्थना की और शिष्यत्व स्वीकार किया । इनमें से विशेषकर हिमाचल के कई राजाओं से इनका सम्पर्क हुआ और राज - सम्मान भी मिलता रहा । इसी प्रकार भरतपुर के नरेश भी इनके शिष्य बन गये और उन्होंने आदरपूर्वक इनको अपने यहाँ ठहराने के लिये आश्रय भी दिया परन्तु यह जन के [illegible] सामान्य - जनों के प्रति लगाव के कारण एवं राजसिक जीवन व्यतीत करने के प्रति उपरामता के कारण अधिक देर तक नहीं ठहरे । और जनता जनार्दन की सेवा के लिये ग्राम - ग्राम घूमते हुए अपने शिष्यों के घरों में रहते रहे । परन्तु ऐसा होने पर भी भरतपुर के राजा का अपने प्रति आदर [illegible] देखते हुए प्रायः उसके यहाँ जाते भी रहे ।

विद्वद्संगोष्ठी प्रेमी :

आचार्य केवल सामान्यजनों में ही अपनी शिक्षा का प्रचार प्रसार नहीं करते रहे, प्रत्युत् विद्वद् संगोष्ठियों में भी भाग लेकर शास्त्र-चर्चा करते रहे । इस शृंखला में उन्होंने वाराणसी में तत्कालीन होने वाले " [illegible] सम्मेलन " में बढ़चढ़ कर भाग लिया । इसी प्रकार जहाँ कहीं भी कोई संगोष्ठी होती रही, तो उस में भाग लेते रहे । इसी उपलक्ष्य में वह कलकत्ता एवं बम्बई आदि नगरों में भी गये ।

पुनः गृहगमन :

अपने परिव्राजक जीवन की अत्याधिक व्यस्तताओं के उपरान्त भी वह घर एवं अपने परिवार के प्रति स्नेहभाव रखते थे । इसी उपलक्ष्य में वाराणसी सम्मेलन में भाग लेने के पश्चात् घर भी गये और वहाँ अपने [illegible]

एवं भाई से भी मिले ।

संस्थाओं की स्थापना : आचार्य ने केवल मौखिक उपदेश ही नहीं दिये, प्रत्युत उन्हें लिपिबद्ध भी किया और उन की संरक्षणतार्थ एवं अपने उपदेशों की निरन्तरता बनाये रखने के लिये कुछ संस्थाओं को स्थापित भी किया । इसी कड़ी में उन्होंने सोलन में " स्वाध्याय सदन" नामक संस्था की स्थापना की थी । वहां से अपनी शिक्षाओं का सामान्यजनों तक सुगमता से प्रचार - प्रसार करने के लिये " श्री स्वाध्याय" नामक पत्रिका भी लगभग 1960 ई.प. के उपरान्त से सोलह वर्षों तक प्रकाशित करते रहे ।

तदनन्तर कारणवश सदन का कार्य रुक गया और इसलिये उन्होंने अपना पुस्तक भण्डार भरतपुर में स्थानान्तरित कर दिया । 1980, 81, 82 इन तीन वर्षों में इनका स्वास्थ्य बहुत ढीला रहा, इस कारण से दिल्ली में ही निरन्तर रहते रहे । 1982 में उनका प्रिय शिष्य भरतपुर निवासी मिश्रगोविन्द शर्मा जब परलोक सिधार गया, तो उन्होंने अपने पुस्तक भण्डार को जयपुर भिजवा दिया। जयपुर में भी इनके शिष्यों ने इनकी प्रेरणा से एक संस्थान की स्थापना की, जिस में इन का पुस्तक भण्डार उपलब्ध है । इन्होंने एक प्रसिद्ध शोध संस्थान "श्रीपीठ - शैव दर्शन " के नाम से अपने शिवधाम गमन के कुछ वर्ष पूर्व ही स्थापित करवाया था । इसी संस्थान ने जम्मू में इनके अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है । जीवन के अन्तिम वर्ष में उन्होंने दिल्ली में " विद्वद्वरवल्ले श्री राधाकृष्ण" धार्मिक संस्थान की स्थापना की थी । अब प्रकाशन कार्य हेतु "श्रीविद्या प्रकाशन" नाम से एक प्रसिद्ध संस्था का भी निर्माण किया गया है ।

(ख) व्यक्तित्व : आचार्य के जीवन के सर्वाङ्गीण अवलोकन से पता चलता है कि उनका व्यक्तित्व विविध विशेषताओं से ओतप्रोत था । उनके विषय में किसी प्रकार की इतिश्री का मापना सर्वथा उन के साथ अन्याय होगा । वह उन युग प्रभावकारी महापुरुषों में से एक प्रतीत होते हैं, जो अपने

व्यक्तित्व के प्रभाव से तत्कालीन समाज में परिवर्तन लाने में समर्थ होते हैं । किसी शायर ने ठीक ही कहा है :-

" लोग कहते हैं बदलता है जमाना अक्सर ।
मर्द वह है जो बदल देता है जमाने को अक्सर ।।

उन्होंने अपने संघर्षमय जीवन से यह सिद्ध कर दिया कि [illegible] परिश्रम, लगन, सहनशीलता, और लक्ष्य के प्रति समर्पिकता की भावना से कोई भी कार्य असम्भव नहीं रहता है । वह एक अति निर्धन परिवार से सम्बन्ध रखते थे । माता - पिता का भी साया बाल्यावस्था में ही छूट गया, तो भी उन्होंने परिवार के संचालन, विद्याध्ययन एवं योगाभ्यास में किसी भी प्रकार से आँच नहीं आने दी । अपने अध्ययन के लिये "प्रूफरीडिंग" [illegible] पश्चात् में सम्पादन जैसे कार्यों से न केवल विद्याध्ययन का खर्च चलाया, [illegible] उस छोटी - सी आजीविका से घर का प्रबन्ध भी चलाया । [illegible] सिद्ध [illegible] हैं कि वह एक कुशल परिश्रमी, सफल प्रबन्धक एवं दूरदर्शी भी थे ।

आचार्य एक कुशाग्र - बुद्धि एवं स्फुट स्मरण शक्ति से सम्पन्न [illegible] जब उन के पिता की मृत्यु हो गई और इस कारण उन के अध्ययन मार्ग में [illegible] आने लगी तो इन्होंने अपने पितृव्य से संस्कृत जैसी कठिन भाषा को [illegible] सीख ही नहीं लिया, अपितु उस में निपुण भी हो गये । व्याकरण जैसे दुर्बोध शास्त्र को समझ करके हृदयङ्गम कर लिया । वह अपने को एक बड़ा विद्वान् मानते थे और इसका उन्हें स्वाभिमान भी था[1] ।

वह सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ थे । धर्मशास्त्र में तो पूर्णरूपेण निष्णात [illegible], इसीलिये उनको इनका सम्पादन कार्य मिला था । दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में तो उनकी अपनी ही पैठ थी । उन्होंने इसी के बलपर अद्वैतवेदान्त [illegible] को [illegible] दिशा दी । इस के तथ्यों एवं रहस्यों को अतीव सरल एवं सुबोध [illegible] कृतियों के माध्यम से प्रस्तुत करके व्याख्यात किया । "[illegible]" इस का ज्वलन्त प्रमाण है ।

---

1. क. " समुद्भूतः कोऽपि विद्वदपश्चिमः [illegible]
ख. " वपुर्विद्वद्वरिष्ठः स्वयं " [illegible]

वह एक सत्कुलीन, वैराग्यवान्, अनन्य शैव भक्त और परम अद्वैत ज्ञानी थे। "परमशिवस्तोत्र" से स्पष्ट है कि परमसत्ता के प्रति अथाह प्रेमभाव के कारण उन्हें जगत् के प्रति अनास्था थी[1] इससे शिव के प्रति उनकी अगाध भक्ति झलकती है। उनके अद्वैत ज्ञान की पराकाष्ठा का द्योतन "आत्मविलास" जैसी कृतियों में स्पष्ट उपलब्ध होता है।

वह केवल धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधारा वाले ही नहीं थे, विशुद्ध राजनीतियुक्त राष्ट्रवादी विचारधारा के भी प्रबल समर्थक थे। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध राजनीतिक - रचना "राष्ट्रालोक" में राजनीति के कर्णधारों के लिये जिन आधारभूत नैतिक मूल्यों का सिद्धों के जैसी दृष्टिकोण से वर्णन किया है, वह आजके वैज्ञानिक युग में विश्व - शान्ति के लिये परम आवश्यक है। इन्होंने जहाँ पर पारमार्थिक स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिये "आत्मविलास" जैसे विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ का निर्माण भी किया। वह एक सिद्ध ... गजल लेखक और काव्यरचयिता भी थे। वह एक मौलिक लेखक के साथ - साथ सफल भाष्यकार भी थे।

वसुगुप्त और सोमानन्द की भाँति इन के ज्ञान का मूल स्रोत भी दैवी ही था। भगवान् दुर्वासा इन के दैवीज्ञान के अनुग्राहक थे, जिस से पता चलता है कि इन में सिद्ध पुरुष के पूर्ण लक्षण विद्यमान थे।

वह एक नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इन्होंने विवाह किया था, इसलिये भौतिकरूप से वह ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते, परन्तु परमहंस रामकृष्ण की भाँति इनका भी अपनी अर्धाङ्गिनी से शारीरिक सम्बन्ध कभी नहीं रहा एवं आध्यात्मिक रूप में वह सदा ... में लीन रहते थे।

त्रिकालदर्शी : आचार्य के "आत्मपरिचय" नामक लघुकाव्य से पता चलता है कि वह एक त्रिकालज्ञ साधु थे। उन्होंने अपने योग बल से ... और ...च्युत

1· वैराग्यज्ञानभक्त्या धनाढ्यस्त्वजगत्पथ : ।
वदान्य परमाऽपारकरुणालोलसत्कुल: ।। { आ० वि श्लो० ... }

को वर्तमानवत् अनुभव कर लिया था । यही कारण है कि वह अपने पिछले चार जन्मों का वृत्तान्त जान गये थे । तदनुसार पिछले चौथे जन्म में वह एक [illegible] थे और किसी देवलोक में रहते थे और साधुवेश में ही रहते थे । दूसरे [illegible] की ईर्ष्या के कारण अपने पर झूठा लाञ्छन लगने से अपने गुरु के कोप का भाजन [illegible] पड़ा जिसे इन्होंने सहन नहीं किया । उन के गुरु ने इसे अपनी अवहेलना समझते हुये इन्हे चार बार मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दे दिया । परन्तु वर्तमान चौथे जन्म में भगवान् दुर्वासा के अनुग्रह से शाम्भव योग की दीक्षा के [illegible] से मर्त्यलोक से छुटकारा पाकर ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति होने का उन्हें पता [illegible] उनके भविष्यत् ज्ञान का प्रबल द्योतक है ।

<u>जीवन्मुक्त</u> : उन की आत्म विलास रचना से प्रतीत होता है कि वह एक जीवन्मुक्त की दशा के अनुभावक थे । जिस प्रकार गीता में ब्रह्मज्ञान की [illegible] प्राप्त के लिये श्रीकृष्ण ने कहा है कि न तो उसके लिये कुछ प्राप्तनीय होता है और न कुछ अप्राप्त होता है, उसका आचार - व्यवहार केवल लोक संग्रह के लिये होता है।[1] लोग तो " महाजनो येनगता सः पन्थः" उक्ति अनुसार [illegible] के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं । इसी प्रकार आचार्य ने शिवत्व की प्राप्ति होने पर भी लोक - कल्याण के लिये लिखा । और उस के पीछे उनका कोई [illegible] निहित स्वार्थ नहीं था । वह अपने आप को शिवरूप में ही [illegible] हैं ।[2]

<u>शिवधाम गमन</u> : ऐसी महान् विभूति का शिवधाम गमन [illegible] से आश्विन मास में शुक्ला नवमी तिथि को हुआ । यह अक्तूबर मास एवं ई॰स॰ [illegible] से इनके पांच भौतिक शरीर को हरिद्वार पहुंचाया गया और [illegible] निर्धारित शास्त्रविधि के अनुसार उन्हें नीलधारा में जल - [illegible]

---

1 न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
  नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ ([illegible] 3/22)

2• सच्चिदानन्दरूपेण सच्चिदानन्दरूपिणः ।
  सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वानन्दाय निरूपितम् ॥ ([illegible])

तब से लेकर दिल्ली में उनकी शिवैक्य प्राप्ति की तिथि के अवसर पर प्रत्येक वर्ष उन का निर्वाणोत्सव मनाया जाता है ।

उपर्युक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि "श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य" एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न महान् व्यक्तित्व थे । उनकी शिक्षायें एवं ज्ञान मानव मात्र के निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये सर्वथा उपयोगी हैं। इन पर आचरण करने से विश्व में परम् - शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है ।

x x x

द्वितीय अध्याय

श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य द्वारा विरचित कृतियाँ : आचार्य [illegible] एक उच्चकोटि के साधक थे, और भगवान् दुर्वासा की अनुकम्पा [illegible] होने से रहस्ययोग के मर्मज्ञ थे । यही कारण है कि उन्होंने योग - [illegible] के बल पर परमार्थसत्ता एवं जगत् के रहस्यों के ज्ञान और विज्ञान को [illegible] हृदयङ्गम कर लिया था । जिस प्रकार मेघ "समुद्र से जल का ग्रहण [illegible] स्वार्थवश नहीं करता है, प्रत्युत् संतप्त - भू एवं प्राणियों की [illegible] लिये उस का विसर्जन करता है, उसी प्रकार सत्पुरुष स्वाभाविक [illegible] परोपकारी होते हैं । उनका अपना स्वार्थ कुछ नहीं होता है, प्रत्युत् [illegible] भावना से ही जो कुछ भी ग्रहण करते है, वह परजनहितार्थ ही [illegible] है ।

आचार्य ने भी अपने अनुभव, साधना एवं [illegible] जो ज्ञान और विज्ञान अर्जित किया था, वह उसे अनुग्रहवश [illegible] कल्याणार्थ सर्वसुलभ करना चाहते थे । यही कारण है कि [illegible] को मौखिक रूप तक ही सीमित नहीं रखा, प्रत्युत् - उसे लिखित [illegible] ताकि वह अक्षुण्ण भी रह सके । आचार्य ने अपने जीवन काल में बहुत - [illegible] लिखी, जो प्रमुखतया भक्ति, दर्शन, धर्म, राजनीति एवं राष्ट्रीय [illegible] विचारधारा से सम्पन्न थीं । इन कृतियों का कालक्रमानुसार [illegible] विवरण इस प्रकार है :-

1- परम शिवस्तोत्र : दर्शन शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में " परमशिवस्तोत्र " [illegible] सर्वप्रथम आता है, जिस की रचना आचार्य द्वारा 1926 ई०प० [illegible] की साधना से आविर्भूत भगवान् दुर्वासा की अनुग्रहरूप [illegible] से प्राप्त शैव रहस्यों को इन्होंने इस ग्रन्थ में अभिव्यक्त किया है ।

आचार्य के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् [illegible] है इन सभी में एकमात्र परमशिव ही व्याप्त है । इसीलिये इस ग्रन्थ में [illegible]

1. परोपकाराय हि सताम् विभूतय: ।
आदानं हि प्रदानाय वारिमुचमिव ।। [illegible] प्र० स० ।

के व्याज से अद्वैतमयी दृष्टि से परमशिव की स्तुति की गई है । अतः यह ग्रन्थ एक ओर से एक स्तोत्र काव्य है और दूसरी ओर से सिद्धों की दर्शन विद्या को प्रतिपादित करने वाला एक शास्त्र भी है ।

यद्यपि इस ग्रन्थ से भी पहले उन्होंने " पिकोक्ति" नामक कविता की रचना की है, जिसका वाचन उन्होंने वाराणसी में संस्कृत विद्वद्गोष्ठी में किया था । तथापि विषय की महत्ता की दृष्टि से "परमशिवस्तोत्र" दर्शनशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ होने से सर्वप्रथम ही आता है । इस का प्रकाशन " श्रीपीठ" नामक शैवदर्शन शोध संस्थान जम्मू से 198[illegible] ई॰प॰ में हुआ ।

2॰ परशिवाष्टकम् : यह रचना भक्ति अथवा स्तोत्र-काव्य की श्रेणी में आती है । परिव्रजन के कुछ ही समय पश्चात् अपनी दयनीय दशा से प्रभावित होकर भगवान् शिव के अनुकम्पा के लिये उनकी स्तुतिरूप में इस का निर्माण ऋषिकेश में 1929 ई॰प॰ में किया गया । इस में आठ श्लोक हैं । इस का प्रकाशन अमृत स्तोत्र संग्रह में सन् 1984 ई॰प॰ में हुआ ।

3- मन्दाक्रान्ता स्तोत्र : इस अत्युत्तम देवीस्तोत्र काव्य का निर्माण आचार्य ने कश्मीर मण्डल में बारामूला नामक कस्बे में भगवती शैलपुत्री के तीर्थ पर [illegible] में किया । इस में इनकी इष्ट देवी बाला त्रिपुरा के सभी अङ्गों के अनुपम सौन्दर्य का शास्त्रीय वर्णन अतीव मधुर एवं मनोहर है । सर्वश्रेष्ठ - शाक्त स्तोत्रकाव्य की दृष्टि में सौन्दर्य लहरी, पञ्चस्तवी, त्रिपुरामहिम्ना और [illegible] स्तोत्रों की श्रेणी में आता है । इस में इन्होंने शैव सिद्धों के [illegible] तत्त्वों को एवं शाक्त - साधना को कवित्वमयी कल्पनाओं के द्वारा [illegible] में स्पष्ट कर दिया है ।

उनके शिष्य डा॰ बलजिन्नाथ पण्डित ने [illegible] अनुवाद सहित इसका एक प्रकाशन 1979 ई॰प॰ में और दूसरा प्रकाशन [illegible]

में इनके शिष्य रामनन्द शास्त्री द्वारा विस्तृत हिन्दी टीका सहित [illegible]

4- बालकभा प्राहि : गीतिकाव्य की शैली पर आधारित यह [illegible] लघुकाय देवी स्तोत्र है । इस में देवी से अपने बालकभाव से रक्षा हेतु प्रार्थना की गई है । कश्मीर मण्डल में साधु गंगा तीर्थ पर 1929ई॰प॰ में इस का [illegible] किया गया ।

यह अमृतस्तोत्रसंग्रह में हिन्दी अनुवाद सहित 1984 में प्रकाशित की गई है ।

5- बालाम्बारस्तव : आचार्य द्वारा अपनी आराध्या देवी भगवती त्रिपुर-सुन्दरी की प्रार्थना रूप में लिखी गई यह सुन्दर रचना अलभ्य है । सम्भवतः इस की रचना 1929 ई॰प॰ के आसपास हुई है ।

आचार्य के अनुसार उनके शिष्य [illegible] निवासी [illegible] वकील से यह रचना खो गई थी ।

6- पवननन्दनाष्टकम् (मारुति स्तोत्रम्) : आचार्य द्वारा हनुमान जी की स्तुति के रूप में अपने परिव्राजक - जीवन के प्रारम्भिक काल में इस का [illegible] हरिद्वार में 1929 ई॰प॰ में किया गया ।

हिन्दी अनुवाद सहित 1984 ई॰प॰ में [illegible] का प्रकाशन किया गया है ।

7- श्री कृष्णगीत दशकम् : आचार्य ने अपने पिता एवं श्री कृष्ण की [illegible] के [illegible] में दस श्लोकों वाले इस स्तोत्र का निर्माण 1929 ई॰प॰ में किया था ।

आचार्य के अनुसार यह रचना भी [illegible] निवासी महेश वकील द्वारा खो गई थी ।

8- महागुरु श्री कृष्ण स्तोत्र : आचार्य द्वारा कश्मीर मण्डल के [illegible] में काकोर्टनाग नामक तीर्थ में इस का निर्माण 1930 ई॰प॰ में किया [illegible]

इस में उन्होंने अपने पिता के साथ - साथ भगवान् श्री कृष्ण की अर्द्ध - [illegible] के द्वारा बड़ी सुन्दर स्तुति की है ।

हिन्दी अनुवाद सहित इस का प्रकाशन 1984 ई॰प॰ में हुआ ।

9- बालकृष्णदशकम् : आचार्य द्वारा इस स्तोत्र का निर्माण कश्मीर मण्डल के अनन्तनाग जिले में स्थित वराह नामक ग्राम में सन् 1930 ई॰प॰ में हुआ । इस में आचार्य ने भगवान कृष्ण की उनके बाल रूप में दस श्लोकों में प्रशंसा की है ।

इसका प्रकाशन दिल्ली में सन् 1984 ई॰प॰ में हुआ ।

10- आत्म विलास : आचार्य के दर्शन - ग्रन्थों में उनकी यह [illegible] मानी जाती है । उन्होंने इस का निर्माण कश्मीर मण्डल में [illegible] तीर्थ के पास हवाल नामक ग्राम में क्रीडा देवी के अनुग्रह से [illegible] की प्रार्थना पर परोपकारार्थ 1930 ई॰प॰ में किया था । इस में आचार्य [illegible] अतीव सुबोध एवं तर्कसंगत युक्तियों से आत्मा अर्थात परमेश्वर की [illegible] बर्हिमुखी लीला का निरूपण किया है ।

आचार्य द्वारा प्रदत्त इसपर व्याख्या को उनके [illegible] (हि॰प्र॰) निवासी शिष्य लब्भुराम द्वारा 1933 ई॰प॰ में लिखा गया । इसका "सुन्दरी" नाम से 1936 ई॰व॰ में प्रथम प्रकाशन हो गया । इस का [illegible] संशोधित प्रकाशन जम्मू से हुआ । इसकी विस्तृत संस्कृत टीका अभी [illegible] ।

11- रामाश्वधाटीस्तव : आचार्य ने इस स्तोत्र में भगवान राम की [illegible] है जिसके पढ़ने से सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान हो जाता है । इस का निर्माण कांगड़ा मण्डल में स्थित शेरटान नामक गाँव में [illegible] गया ।

इसका प्रकाशन अमृत स्तोत्र संग्रह में 1984 [illegible] में हुआ ।

12- परशुराम स्तोत्र :

आचार्य ने इस सुन्दर एवं उत्तम स्तोत्र में [illegible]

का वर्णन किया है, जिस के करने से युद्ध, संघर्ष, मुकद्दमा आदि में सफलता मिलती है । इस का निर्माण कश्मीर मण्डल में मार्तण्ड तीर्थ (मट्टन) पर 1932 ई॰प॰ में किया गया था । आचार्य की प्रेरणा से इस स्थान पर [illegible] अनुष्ठान किया गया जिस के फलस्वरूप आज तक कोई भी विधर्मी अपना अधिकार इसपर नहीं जमा सका ।

इस के प्रथम संस्करण का प्रकाशन 1934 ई॰प॰ में हुआ । द्वितीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन 1940 ई॰प॰ सोलन में हुआ और तृतीय संस्करण का प्रकाशन 1957 ई॰प॰ दिल्ली में हुआ ।

13- <u>राष्ट्रलोक</u> : राजनीति सम्बन्धी ग्रन्थों में " राष्ट्रलोक " का नाम [illegible] है, जिसका निर्माण आचार्य द्वारा 1933 ई॰प॰ में किया गया था । इस में राष्ट्र सम्बन्धी आवश्यक विषयों को व्यक्त करके उन पर दार्शनिक दृष्टि से [illegible] गया है । अर्थात् इस में राष्ट्र के शासन तन्त्र के सभी प्रधान अङ्गों [illegible] शैवी सिद्धों के दृष्टिकोण से किया गया । इसमें कहा गया है कि राष्ट्र [illegible] आर्य हैं । आर्य ही शान्ति की स्थापना कर सकते हैं । " भारत [illegible] स्वातन्त्र्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, राष्ट्र हमारा पिता है, [illegible] आचार्य है । हम सदा उस के सेवक हैं । हमारा राष्ट्र हमें भोग और मोक्ष देता है ।

हमें सच्चे राष्ट्रिय होना चाहिये । अभारतीय [illegible] अतिथि हो सकते हैं, राष्ट्रिय नहीं । हम संक्रान्ति का सदा [illegible] हमें ऐसी शान्ति नहीं चाहिए जो राष्ट्र को परतन्त्र बनाये । [illegible] के पुत्र होते हैं, पति नहीं । भारतीय अपने को हिन्दू मानने में गौरव [illegible] करते है । भारतीय आदर्श के विपरीत क्रान्ति, किंक्रान्ति है, संक्रान्ति [illegible]

इस प्रकार श्रीराष्ट्रलोक परम पवित्र भारतीय आदर्श [illegible] जीवन शास्त्र है ।

इस ग्रंथ का प्रकाशन क्रमशः 1934, 1947 और [illegible] हुआ और इस का भाष्य अप्रकाशित है ।

14- प्रशोभम्भो प्रार्थना : आचार्य ने इस विनययुक्त श्लोक का निर्माण दैवी शक्ति की प्रेरणा से नालागढ़ (हि॰प्र॰) में सन् 1933 ई॰ में किया ।

यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि 1942ई॰प॰ तक इसका [illegible] संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है ।

15- राष्ट्रसंजीवनी भाष्य : आचार्य द्वारा निर्मित राष्ट्रवादी विचारधारा की रचना " राष्ट्रश्लोक" पर उनके द्वारा लिखित सुविस्तृत संस्कृत भाष्य "राष्ट्र संजीवन भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । उन्होंने सोलन के शिवमन्दिर की [illegible] में स्वसंस्थापित " श्रीस्वाध्याय सदन" नामक संस्था में 1936 ई॰प॰ में इस का निर्माण किया था ।

यह बहुमुल्य राजनीति सम्बन्धी कृति अभी अप्रकाशित है

16 - महानुभवशक्ति स्तोत्र : यह एक लघुकाय स्तोत्ररूप में [illegible] ग्रन्थ है । इस में आचार्य ने परमेश्वर की अभिन्नरूपा पराशक्ति की स्तुति के रूप में [illegible] पाँच स्वरूपों/ सोपानों अर्थात् चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया [illegible] के विमर्शात्मक अन्तःपरिस्पन्दन से ही परमेश्वर सृष्टि, संहारादि [illegible] में सतत प्रवृत्त रहता है । यह उसका निजी स्वभाव है, परमेश्वरता है [illegible] है, जिस के कारण वह वेदान्त - सम्मत ब्रह्म की भाँति मायादि पर [illegible] नहीं रहता । इसका निर्माण सन् 1936 ई॰प॰ में हुआ और इस का प्रकाशन संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या सहित 1953 ई॰प॰ में भरतपुर में हुआ है ।

17- वरकलवंशवृत्तम : आचार्य ने अपनी वंश परम्परा की जानकारी [illegible] करने के लिये सन् 1936 ई॰प॰ में इस का निर्माण किया । इसमें उन्होंने [illegible] निकट सम्बन्धी, मित्रों, अध्यापकों, गुरुओं और श्रुति- परम्परा [illegible] जानकारी के आधार पर अपने अति प्राचीन पूर्वजों के सम्बन्ध में [illegible]

18- सप्तपदी हृदयम् : आदर्श विवाह के रूप में ऋषियों द्वारा [illegible] की प्रक्रिया के गूढ़ रहस्यों को सुबोध एवं सर्वजनसुलभ करने के लिये [illegible] सम्बन्धी कृति का निर्माण 1930 ई॰प॰ में किया गया । आचार्य द्वारा इसमें परिवार की भौतिक अभ्युन्नति के लिये क्रमशः अन्न, बल, धन-धान्य, सुख, पशुसम्पत्ति, काम - सुखसन्तति और सख्यभाव के परस्पर उपार्जन, वृद्धि, [illegible] संर[illegible]

संरक्षण, वितरण आदि के लिये सात प्रगति रूपी प्रयोजनों का, उन प्रयोजनों के अनुकूल वर - वधु की परस्पर प्रतिज्ञाओं का तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये एक साथ भूः भवा, स्वः, महाः जनः, तपः और सत्य सात लोकों में क्रम से संक्रमण के संकल्पों का परस्पर संवाद रूप में सुन्दर वर्णन किया गया है ।

इस का प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित 1940 ई०प० में हुआ । तदनन्तर संस्कृत, हिन्दी टीका और अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका दूसरा संस्करण 1962 ई०प० में भरतपुर में प्रकाशित हुआ ।

19- चारूसन्देश : चारू सन्देश एक छोटी सी कविता के रूप में [illegible] लघु काव्य है । इस में उन्होंने घर छोड़ने एवं परिव्राजक जीवन [illegible] इस चारू सन्देश को अपनी पत्नी के लिये लिखकर अनुवाद सहित [illegible] इस ने परिस्थितियों के अनुसार कल्याण के मार्ग पर चलने का और [illegible] सदुपदेश लिखा था । जिसका अनुसरण करके उस की भी आध्यात्मिक उन्नति हो गई थी । इसका निर्माण सन् 1944 ई०प० में लायलपुर (पश्चिमी पंजाब) में किया था ।

20- संक्रान्ति - पञ्चदशी : आचार्य द्वारा कश्मीर राज्य के [illegible] नामक पत्तन में 1946 ई०प० में इस भावपूर्ण खण्डकाव्य की रचना की गई [illegible] में राष्ट्रलोक में प्रतिपादित आर्योचित क्रान्ति पर भगवती दुर्गा का [illegible] करके अतीव मनोहर और भावपूर्ण ढंग से स्तुति की गई है ।

इस राजनीतिपरक ग्रन्थ का प्रकाशन 1970 ई०प० में हुआ ।

21 - कृतघ्न मित्रं प्रतिपत्रम् : इस अप्रकाशित लघुकाय काव्य का निर्माण [illegible] अपने एक अभिन्न मित्र के द्वारा विश्वासघात किये जाने पर उस की [illegible] से अभिव्यञ्जित व्याजस्तुति के रूप में 1948 ई०प० में किया गया ।

22- विंशतिका शास्त्र : इस लघुकाय दर्शन शास्त्र का निर्माण [illegible]

अनन्य भक्त एवं शिष्य मिश्र गोविन्द शर्मा की प्रार्थना पर 1951 ई.प. [illegible] किया गया। इसमें सिद्धों की दर्शन विद्या के सूक्ष्म सिद्धान्तों का निरूपण तर्क वितर्कों की क्लिष्टता से रहित सरल शब्दों में किया गया है, परन्तु [illegible] की दृष्टि से यह बड़ा गम्भीर है। प्रमुख रूप से इस में मूल तत्त्व के रूप, [illegible] विस्मयी लीला, स्वभाव की विशेषताओं और विविध प्रकार की [illegible] अभिव्यक्तियों का वर्णन किया गया है।

इस पर डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित की विमर्शिनी, [illegible] शास्त्री की प्रकाशिनी, प्रो. रामचन्द्र तिवारी की प्रसादनी [illegible] टीकाओं सहित मिश्र गोविन्द शर्मा द्वारा भरतपुर मे 1959 ई.प. में प्रकाशन किया गया है।

23 - अमृतसूक्तिपञ्चाशिका : आचार्य द्वारा समय - समय पर लिखी [illegible] अर्थ, मोक्ष, सज्जनता, दुर्जनता, पाप, पुण्य, उत्सव, ऋतुओं और [illegible] आदि के विषय में सूक्तियों में से शिखरिणी छन्द में निर्मित पचास [illegible] का एक कृति के रूप में संकलन 1953 ई.प. में किया गया, जिसका नाम अमृतसूक्ति पञ्चाशिका है। इस में अतीव रोचक ढंग से स्वतन्त्रभारत के शासकों [illegible] की अनार्य नीतियों का, काले हृदय और शरीरों को सफेद वस्त्रों [illegible] नेताओं तथा चुनावों में व्यवहार में लाई जाने वाली दूषित पद्धतियों का, [illegible] पारमेश्वरी लीलाओं अभिव्यक्त करने वाली सुन्दर सूक्तियों का वर्णन किया गया है।

इसका प्रकाशन 1953 ई.प. में डा॰ बलजिन्नाथ पण्डित ने हिन्दी टीका सहित किया है।

24 - अवधूताभिवादनम् : आचार्य ने इस लघुकाय स्तोत्र का निर्माण [illegible] में किया। इस स्तोत्र में अवधूतों का गुणगान किया गया है।

इस का प्रकाशन अमृतस्तोत्र संग्रह मे 1955 ई.प. में हुआ।

25 - स्वाध्यायमहिमस्तोत्र : आचार्य ने इस स्तोत्र का निर्माण [illegible] में शिखरिणी छन्द में रचे हुए इक्कीस श्लोकों का और एक शार्दूल वि[illegible] का संग्रह करके किया । आचार्य महोदय स्वाध्याय के प्रत्येक अंक के लि[illegible] प्रशंसा में कम से कम एक - एक श्लोक भेजते थे ।

इस का प्रकाशन अनुवाद सहित 1962 ई॰प॰ में [illegible] निवासी श्री रमानन्द शास्त्री ने किया ।

26 - देशिक दर्शनम् : भगवान् दुर्वासा के साक्षात् दर्शनोपरान्त आचार्य ने कश्मीर मण्डल में कुलगाँव नामक कस्बेमें 1962 ई॰प॰ में इस [illegible] काव्य का निर्माण किया । इसमें भगवान् दुर्वासा के अंगों का, वेशभूषा [illegible] प्रकट होते हुये मनोभाव का सुन्दर वर्णन किया है ।

इस ग्रन्थ का टीका सहित प्रकाशन 1983 ई॰प॰ में [illegible]

27 - संजीवनी दर्शनम् : आचार्य ने इस काव्य का निर्माण कुलगाँव [illegible] पत्तन में सन 1962 ई॰प॰ में किया । इस में हिमाचल प्रदेश के तीर्थ [illegible] धार्मिक स्थानों एवं पार्वती नदी इत्यादि के प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर [illegible] वर्णन किया गया है । इसमें त्रैयम्बक विद्या की दीक्षा द्वारा मृत्युञ्जय[illegible] छुटकारा प्राप्त होने की अपने जीवन पर आधारित सत्य घटना का वर्णन [illegible] गया है । जिसके अनुसरण से व्यक्ति स्वास्थ्य लाभ एवं मोक्ष प्राप्ति कर [illegible] है ।

इस का हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशन 1983 ई॰प॰

28 - सिद्धमहारहस्यम् : आचार्य के दर्शन शास्त्र ग्रन्थों में अद्वितीय रत्नस्वरूप सिद्धों के महारहस्यों का परिचायक-उन द्वारा यह ग्रन्थ [illegible] पर शैवी रहस्यों पर लिखित सूक्तियों का संकलन रूप है । [illegible] में " श्री सिद्धमहारहस्यम्" नाम से संकलन किया गया । इस में [illegible] के शिव अथवा शक्ति नाम की अपेक्षा " शाक:" नाम की [illegible], [illegible] प्रपञ्च की शक्तिरूपता, अपने इष्ट गुरु, दुर्वासा की [illegible]

तथा [illegible] [illegible]

तथा उसके फलस्वरूप होने वाले दिव्य दर्शनों, शाम्भवयोग की प्राप्ति के उपायों और भगवती त्रिपुरासुन्दरी के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस पर डॉ॰ बलजिन्नाथ पण्डित द्वारा लिखित हिन्दी टीका का प्रकाशन 1983 ई॰प॰ में हुआ। विस्तृत संस्कृत व्याख्या अप्रकाशित है।

29 - सिद्धमानव-दर्शनम् : इस रचना का निर्माण 1963 ई॰प॰ में हुआ, जिसमें आचार्य के 1930 ई॰प॰ में कश्मीर भ्रमण के मध्य श्रीनगर में हरि पर्वत पर स्थित शारिका भगवती के सिद्धपीठ में शिवरूप सिद्ध के दर्शन एवं उस द्वारा वेध - दीक्षा से माया कुण्डलिनी के रहस्य के खुल जाने की घटना पर आधारित दृश्यों का सुन्दर वर्णन है।

इस का प्रकाशन 1978 ई॰प॰ में हुआ।

30 - त्रिगुणेश्वर स्तोत्रम् : आचार्य ने दिल्ली में निजामुद्दीन रेलवे स्टेशन के पास स्थित मन्दिर में भगवान शिव के लिङ्ग की स्थापना के अवसर पर उसकी प्रशंसा में 1966 ई॰प॰ में त्रिगुणेश्वर स्तोत्र लिखा था।

इसका प्रथम और द्वितीय प्रकाशन क्रमशः 1966 ई॰, 1980 ई॰ में हुआ और हिन्दी टीका सहित 1984 ई॰ में हुआ।

31 - आपूपिकेश्वर स्तोत्र : भरतपुर में हलवाइयों द्वारा निर्मित मन्दिर में शिवलिङ्ग की स्थापना के अवसर पर आचार्य ने भगवान् शिव की प्रशंसा के रूप में 1966 ई॰प॰ में यह लघुकाय स्तोत्र रचा।

इसका प्रकाशन 1984 ई॰ में हुआ।

32 वैधान् प्रति : आचार्य द्वारा लिखित इस कविता का निर्माण [illegible] में हुआ। यह कृति अनुपलब्ध है।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त आचार्य द्वारा [illegible] पर लिखित, प्रशस्तियां, गजलें, फुटकर श्लोकों तथा जीवन के संस्मरणों [illegible] आदि विषयों, वस्तुस्थिति क्या है, हिन्दी लेखों एवं सुहृद [illegible], [illegible]

प्रमाद और मल्ल युवा आदि की हिन्दी कहानियों का वर्णन भी मिलता है ।
अतः इस से सिद्ध होता है कि अमृतवाग्भवाचार्य न केवल एक प्रसिद्ध दार्शनिक, राजनितिज्ञ, एवं विद्वान् व्यक्तित्व ही थे , प्रत्युत एक महान सफल लेखक भी थे ।

xxx

तृतीय अध्याय

आत्म — विलास का वर्ण्यविषय

नामकरण : आत्मा शब्द से अभिप्राय है परमात्मा, परमशिव, परमार्थ[illegible] अथवा परमेश्वर, तथा विलास से तात्पर्य है - परमेश्वरता । अर्थात् परमेश्वर की स्वभावभूत स्वातन्त्र्यशक्ति का इच्छा, ज्ञान एवं क्रियादि शक्तियों के [illegible] में विकसित होकर विविध लीलाओं को करना ही उस का विलास कहा [illegible] है । उसी विलास के कारण उस की बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी सृष्टि आदि पञ्चकृत्यों की लीला नित्य एवं सतत रूप से चलती रहती है । बहिर्मुखी [illegible] के द्वारा परमसत्ता सृष्टि आदि परमेश्वरी कृत्यों को करती है और [illegible] करते हुये ही अपने वास्तविक स्वभाव को अपनी लीला से ही भुला - [illegible] देती है । इस प्रकार संसारी (बद्ध) जीवों के रूप में अभिव्यक्त [illegible] कर्मफल भोग के नियम में बन्धकर आवागमन के चक्र में भ्रमण करती रहती है । अर्न्तमुखी लीला से वह एक तो कारण, सूक्ष्म स्थूल समस्त प्रपञ्च को पुनः [illegible] में ही आत्मसात् कर लेती है, तथा अपने भुला डाले हुये पारमार्थिक स्वभाव [illegible] शाम्भव - योगादि के अभ्यास से पहचान लेती हुई पुनः अपने आप को [illegible] माहेश्वर ही समझने लग जाती है । इस प्रकार वास्तव में अपने [illegible] (अ[illegible] अक्षर) स्वरूप में किञ्चित चलत्व का आभास ही आत्म - परमेश्वर को [illegible] (उच्छूनता, ऊर्मि, स्पन्द), परमेश्वरता कही जाती है और वही उसका विलास है । चूंकि प्रस्तुत कृति में आत्मा की परमेश्वरता का ही आद्योपान्त सफल प्रस्तुतीकरण किया गया है, इसी लिये आचार्य अमृतवाग्भव द्वारा इस कृति का " आत्मविलास " नाम रखना सार्थक प्रतीत होता है ।

आत्मा (परमसत्ता) का स्वरूप: आचार्य के अनुसार आत्मा सर्वोत्कृष्ट, [illegible] आधार और परम - कल्याणरूप परशिव ही है, जो उदय, अस्त से रहित होने के कारण नित्योदित है । अर्थात् देश, काल और आकार की सीमाओं से [illegible]

होने से वह स्वत: सिद्ध पारमार्थिक- सत्ता है ।

वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं सृष्टि, स्थिति, संहारादि अवस्थाओं में भी सदैव विद्यमान रहने से नित्योदित है । वह किसी इन्द्रिय की सीमा से बांधी न जाने के कारण अवर्णनीय, अद्वितीय है अथवा जड़ - चेतन समस्त प्रपञ्च उसी का रूप होने के कारण वह अद्वितीय है । वह देव अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह रूप पञ्चविध क्रीड़ाशील है । एक आत्म स्वरूप परशिव (परमसत्ता) ही अपने विलास (परमेश्वरता) से अपने आप को शिवादि सकलान्त एवं शिवादि धरणी पर्यन्त प्रमाता - प्रमेयरूप जगत् के रूप में अवभासित करती है अथवा वह अपने आप को आधार बनाकर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से विश्व का दर्पणनगरवत् अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भांति उन्मीलन करती है [1]। अत: परमसत्ता विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय है । इन सभी रूपों में सर्वत: स्वात्मरूपा महाविद्या ही प्रकाशित हो रही [2] अत: सच्चिदानन्दस्वरूप पारमार्थिकसत्ता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, इसलिये स्वात्मा के एकमात्र उल्लास होने के कारण कल्पक, कल्पना तथा क्लृप्त सच्चिदानन्द स्वरूप ही है ।[3]

उस का यह विलास ही सिद्ध पुरुष विद्वानों द्वारा शक्तिरूप से अभिहित होता है, जिसे तथा व्यवहार में शिव - शक्ति रूप से कल्पित किया जाता है । अर्थात् आत्मा शिव है और विलास उस की शक्ति है [4] ।

1· स्वात्मानं स्वाविलासेन विश्वरूपेण भासयन् ।
नित्योदित: कोऽपि देवो जयत्यात्मा पर: शिव: (आ० वि०, 2/1[illegible])

2· "महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वत:" (आ० वि० [illegible])

3· कल्पक: कल्पना क्लृप्तं स्वात्मोल्लासैकमात्रकम् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ।। (तदेव [illegible])

4· सोऽयं विलास एवास्य शक्तिरित्युदितो बुधै:
शिवशक्ति स्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते ।। (आ० वि० [illegible])

आत्मा विलास से पृथक् नहीं है और न विलास ही आत्मा से पृथक् है । अतः वास्तव में वह सत्, चित्, आनन्द, अद्वैत और पारमार्थिकसत्ता है[1] । आत्मा और विलास की अभिन्नता होने पर भी काल्पनिक द्वैत (विश्व) के व्यवहार में परिलक्षित होने वाला विरोध उसी प्रकार से पारमार्थिक रूप में निरासित हो जाता है, जिस प्रकार भङ्ग, तरङ्ग, बुद्बुद और वीचि आदि के रूप में भेद का व्यवहार होने पर भी सागर के स्वरूप का विघात नहीं होता है[2]।

आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप की सिद्धि :

आत्मा की सत्ता एवं असत्ता के विषय में दार्शनिकों के मतभेद का परिहार करते हुये स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा का अस्तित्व वास्तव ही है । जो दार्शनिक आत्मा के अस्तित्त्व का निषेध करना चाहते हैं, वे ऐसा करते हुये भी उसके अस्तित्व को ही सिद्ध कर रहे होते हैं । जैसे " अहमस्मि" ऐसा कहने वाला भी आत्मा की सत्ता को अभिव्यक्त करता है और "अहन्नास्मि" ऐसा कहने वाला भी उस की सत्ता को ही प्रकट कर रहा होता है । इस प्रकार कहने से भी पहले " अहम्" शब्द से आत्मा के अस्तित्व को अभिव्यक्त करके ही पश्चात् उसका निषेध करता है । इसलिये आत्मा का अस्तित्व दोनों प्रकार से स्फुट हो ही जाता है[3]। विद्वानों के अतिरिक्त साधारणजन भी अपने क्रियाकलाप में - " मैं इस काम को करने वाला हूँ" - इस प्रकार के अभिमान से " अहमस्मि" ऐसा करकर वह भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कर रहा होता है । " मैं

1· विलासो न स्वतोभिन्नो विलासादपि न स्वयम् ।
तदेतत् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ।। (आ· वि· 2/3)

2· अपारमार्थिके द्वैते विरोधोऽस्ति मिथो यदि
न अनेन हानिः काप्यास्ति स्वात्मनोऽद्वैतरूपिणः ।।
मिथो भिन्ना भासमाना भङ्गबुद्बुदवीचयः
सागरस्य स्वरूपस्य विघाताय भवन्ति किम् ।। (आ· वि· 2/5, 6)

3· आत्मनोऽभावमिच्छन्तोऽप्यात्मसत्तां नि स्फुटाम् ।
अङ्गीकुर्वन्ति नो चित्रं स्वविलासोऽयमेव भोः ।। (आ· वि· ...)

नहीं हूँ ऐसी अभिव्यक्ति तो मूर्ख भी अपनी आत्मा के विषय में नहीं करता है[1]।

जगत् में परस्पर विरोधीभाव (भाव - अभाव) एक ही वस्तु में नहीं देखे जाते हैं और वह परस्पर पृथक् - पृथक् भी होते हैं। इसलिये अद्वैत अथवा एकत्व की मान्यता असंगत - सी प्रतीत होती है। परन्तु "आत्मविलास" के अनुसार ऐसी बात केवल काल्पनिक स्तर तक ही मानी जा सकती है, पारमार्थिक रूप में नहीं। जैसे एक ही व्यक्ति भिन्न - भिन्न सम्बन्धों की अपेक्षा से पिता - पुत्र, मित्र - शत्रु, माता - बहन - भाई, स्त्री इत्यादि परस्पर विरोधी भावों से सम्बोधित होने पर भी एक ही होता है। इसी प्रकार आत्मा भी परस्पर विरोधी भावों की विद्यमानता होने पर भी एक ही है।[2] तात्पर्य यह है कि एक पुरुष पुत्र की दृष्टि से पिता और पिता की दृष्टि से पुत्र होता है। परन्तु पुत्रत्व और पित्रत्व से परस्पर विरोधी धर्म उस पुरुष को शरीर से भी पृथक् नहीं करते और न ही कर सकते हैं, तो आत्मस्वरूप से कैसे पृथक कर सकते हैं[3]। अत: एक ही सद्रूपात्मा कर्तृत्वादि शक्तियों का अभिन्न संचालक अपने विलास से अपने आनन्द के लिए अपनी चिद्रूपता का विमर्श करती है। अर्थात् "मैं चिद्रूप हूँ"।

इस प्रकार स्वयमेव प्रकाशमान् होते रहना उसकी प्रकाशात्मकता है। इसी को चिद्रूपता भी कहते हैं। पुन: उसे यह प्रतीति भी रहती है कि "मैं ... यह उस चिदात्मकता की स्वभावभूत विमर्श क्रिया है। अत: आत्मा स्वभाव से ज्ञानरूप भी है और क्रिया रूप भी। उस की इस क्रियारूपता के विमर्श से कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप द्वन्द्व का आभास उसी के भीतर होता रहता है। उस को ... आनन्द के चमत्कार का आस्वाद होता है। अत: परमेश अपने स्पर्शों का विमर्श

---

1. नाहमस्मीति मूढोऽपि नात्मनि प्रतिपद्यते ।
   किं तु व्यापार कर्तृत्वमात्मन्येवाऽभिमन्यते ।। (आ॰ वि॰ 2/9)
2. पितृमातृ सुतभ्रातृकलत्रादि सुहृज्जनैः ।
   संसृष्ट : पुरुष: पुत्रादित्वमेकोऽपि विन्दति ।। (आ॰ वि॰ 2/10)
3. पुत्रादित्वादिकं सो यं नित्यं त्वनुभवन्नपि ।
   शरीरेणाऽपि भिन्नो न दृश्यो हि स्वात्मना कृत: ।। (आ॰ वि॰ ...)

करते हुये ही विश्व की सृष्टि, संहारादि करता हुआ अपने आनन्द से स्वयमेव चमत्कृत होता रहता है। यह उस का स्वभाव है।[1] आत्मा के स्वयं प्रकाशमान् (चिद्रूप) होने से ही जगत् के आन्तर और बाह्य विषय भी प्रकाशित होते रहते हैं। (जैसे एक साधारण व्यक्ति भी -"यह सम्पूर्ण दृश्य मैं देखता हूँ। अर्थात् मेरे ही प्रकाश से यह दृश्य प्रकाशित हो रहा है" - ऐसा मानता है, तो विद्वान् का क्या कहना? अतः आत्मा चिद्रूप है)।[2]

जगत् उत्पत्ति विनाशशील होने के कारण चिद्रूप नहीं हो सकता। दूसरे जगत् की जड़ता ही आत्मा की चिद्रूपता का स्फुट प्रमाण है।[3] आत्मा (परमसत्ता) का जगत् को आभासित (प्रकाशित, अभिव्यक्त) करना ही उसकी आनन्दरूपता का परिचायक है। जैसे एक मूर्ख व्यक्ति भी कार्य समूह को अपने आनन्द के लिये ही करता है।[4] वास्तव में अपनी अनुभूति से ही यह निश्चित हो जाता है कि सुख दुःख दोनों सापेक्षिक है। इनका जो आधार है वह परिपूर्ण आनन्द ही है।[5] सुख की अपेक्षा दुःख के विषय में शङ्का हो सकती है कि सुख के मूल में तो आनन्द का भाव विद्यमान रहता ही है, परन्तु

---

1. आत्मैक एव सद्रूपः कर्तृत्वादिवशादयम् ।
   चिद्रूपत्वं विमृशति स्वानन्दाय विलासतः ।। (आ० वि० 2/12)
2. यद्भासाद् दृश्यमाभाति तस्य चित्वं न किं स्फुटम् ।
   पश्याम्यहमिदं सर्वमिति मूढोऽपि मन्यते ।। (तदेव 2/13)
3. आत्मा यदि न चिद्रूपो जडत्वं जगतः कथम् ।
   नश्यमानस्य जगतश्चिद्रूपत्वं न सिद्ध्यति ।। (आ० वि० 2/14)
4. आनन्दरूपता च अस्य जगद्भासनहेतुना ।
   स्वानन्दायैव मूढोऽपि कार्यजातं करोति हि ।। (आ० वि० 2/15)
5. आनन्द एव पर्यन्तः सापेक्षसुखदुःखयोः ।
   स्वानुभूत्या विमृशतो निश्चितं मतमुत्तमम् ।। (तदेव - 2/17)

दु:ख के मूल में भी आनन्द का भाव ही रहता है-ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है ? इसके परिहार रूप में यह बताया गया है कि एक साधारण प्राणी भी रोने जैसी क्रिया के सम्पन्न होने पर शरीर में हल्कापन अनुभव करता ही है । अर्थात् आनन्दानुभूति करता है । जिससे स्पष्ट हो जाता है इससे कि दु:ख के मूल में भी आनन्द ही है ।[1]

इसी प्रकार सत् - असत्, चित्- अचित, आनन्द - ये सभी सापेक्षिक ही है और इनका आधार स्वतन्त्र परिपूर्ण परमसत्ता ही है । वह सर्वथा अभिनवरमणीय है । सभी के हृदय में विराजमान परमेश, मङ्गलों का मङ्गल और अनुभव का सुरहस्य है ।[2] वास्तव में मूर्ख को समझाने के लिये ही अर्थात् स्वकल्पित अज्ञान को मिटाने के लिये ही आत्मवित् पुरुष स्वत:सिद्ध अपने आप को सच्चिदानन्दरूप से अभिहित करते हैं ।[3] वास्तव में तो आत्मा एक अद्वितीय तत्त्व है । जो अपने आप के अनुभव से ही जानी जा सकती है । चूंकि अनुभूति निश्चय ही मूक होती है । इसीलिये कहा जाता है कि वह अद्वैतरूप है । अत: इसलिये आत्मा (परमसत्ता) अपने विलास से सच्चिदानन्दस्वरूप है और सच्चिदानन्द का ही प्रकाशन करने वाली है इसीलिये वह विश्वमय है और इसीलिये वह पराद्वैतस्वरूप है[5]।

---

1. निजानुभूतदु:खादिवार्त्ताविवरणे स्फुटम् ।
   मन्दोऽपि कश्चिदानन्दं विन्दते इति विश्रुतम् ।। (आ॰वि॰2/17)
2. अभिनवरमणीयं सच्चिदानन्दकन्दं स्वनवनवविलासोल्लासनैकप्रवीणम् ।
   अनुभवसुरहस्यं मङ्गलं मङ्गलानामधिहृदिपरमेशं मौनमेवाऽस्मि सोऽहम् । (आ॰वि॰ [illegible])
3. मूढं प्रत्युपदेशाय स्वात्माऽयं तत्त्वदर्शिभि: ।
   सच्चिदानन्दरूपेण भण्यते न तु वस्तुत: ।। ((आ॰वि॰ 2/[illegible])
4. वास्तवं तत्त्वमेकं तु स्वानुभूत्यैव गम्यते ।
   अनुभूतिर्हि मूकोऽस्ति ततो द्वैतं तदुच्यते ।। (आ, वि, [illegible])
5. सच्चिदानन्द स्वरूपं सच्चिदानन्दभासितम् ।
   विश्वोत्तीर्णं विश्वमयमद्वैतं स्वविलासत: ।। ([illegible] 2/[illegible])

आत्मा की विविध नामों से अविरोधिता : भिन्न - भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न - भिन्न दृष्टिकोणों के अनुसार एक ही आत्मा (परमसत्ता) के आत्मा, [illegible] परशिव, परासंवित, स्वभाव, सोम, पुरुष, भगवान्, कर्ता, बुद्ध, जिन और गुरु [illegible] नाम संज्ञित किये गये हैं । श्रीमद् अमृतवाग्भवाचार्य के अनुसार इनसे कोई [illegible] नहीं पड़ता है, प्रत्युत् सभी दर्शनों की अन्तिम भूमि उसी की आनन्दस्वरूपिणी [illegible] समझकर सर्वथा स्तुत्य है । वह परमेश किसी भी रूप से हो, किसी भी नाम से [illegible] इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि वह सभी नामों और रूपों [illegible] इनकी प्रवृत्तियों के निमित्तों, गुणों और क्रियाओं का एकरस निदान भूत है [illegible] अर्थात् सभी का मूल कारण वही है । क्योंकि प्रत्येक वस्तु का आविर्भाव उसी से होता है ।

स्वातन्त्र्यवाद एवं शिवता- जीवता :-- : आचार्य ने भी शैव सिद्धों के [illegible] सिद्धान्त को ही सम्यक् रूप से प्रतिपादित किया है । परन्तु इसकी यथार्थ [illegible] के लिये पहले अन्य मतों का खण्डन किया है ।

अन्यमत खण्डन : (जगत् - प्रपञ्च के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में भिन्न - भिन्न दा[illegible] की भिन्न - भिन्न विचारधारायें उपलब्ध होती हैं । कुछ स्थूल बुद्धि वाले [illegible] (चार्वाकादि) पृथिवी आदि तत्त्वों के आकस्मिक संयोग से इसकी सत्ता [illegible] मानते हैं । कुछ स्वभाव तथा कुछ काल को इस का कारण मानते हैं । आचार्य ने इस प्रकार के निम्नकोटि के दर्शनों का निरूपण करने की अपेक्षा न्याय - वैशे[illegible] सांख्य - योग और वेदान्त मत का पक्ष प्रस्तुत करना श्रेष्ठ समझा है [illegible] समा जाते हैं । अतः इन मतों की उन्होंने भी अपरिपक्वता को [illegible] के स्वातन्त्र्यवाद का सम्यक् मण्डन किया है ।

आरम्भवाद के अनुसार एक विद्यमान [illegible] वस्तु का निर्माण किया जाता है । जैसे न्याय - वैशेषिक के अनुसार [illegible] एक वस्तु सत् है और वह नित्य परमाणुरूप द्रव्य से अविद्यमान ([illegible]

। आत्मा ब्रह्मपर: शिवोऽथ परमासंवित् स्वभावोऽथवा ,
सोमो वा पुरुषोऽपि वाऽथभगवान् कर्ताऽथ कर्माऽपि वा ।
बुद्धो वाऽथ जिनोऽपि वा गुरुरथो हानिर्न [illegible] ,
तत्तद्दर्शनसिद्धभूरभिमताऽऽनन्दात्मिका पातु [illegible] ।। (आ० [illegible]

निर्माण करता है । इसी प्रकार बौद्धादि के अनुसार जो वस्तु पहले कुछ थी ही नहीं, उसे " है" ऐसी वस्तु से यह जगत् पैदा किया गया है । अर्थात् बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं । तदनुसार जो कुछ भी है वर्तमान क्षण में ही है, पूर्वक्षण में उसका अभाव ही था । उस अभाव में से इस वर्तमान क्षण में भाव की उत्पत्ति हो गई । दूसरे क्षण में यह भाव पुन: अभाव में विलीन हो जाएगा । इस तरह से यह अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं । अत: यह भी एक प्रकार से आरम्भवादी ही है ।

इस प्रकार के आरम्भवादियों का खण्डन करते हुये आचार्य का कहना है कि जिस वस्तु का पहले अस्तित्व ही नहीं होता है, उससे कभी भी किसी वस्तु की सत्ता सम्भव नहीं होती है । जैसा की सांख्यवादी भी कहते है ।[1] [illegible] ऐसा मत तो सामान्य जनों द्वारा भी अमान्य है ।

दूसरे प्रकार के आरम्भवादियों अर्थात् "है" वस्तु से नहीं [illegible] की उत्पत्ति मानने वालों का खण्डन करते हुये भी उनका कहना है कि ऐसा भी [illegible] नहीं देखा गया है कि कहीं असत् से सत् का निर्माण होता हो । जैसा कि श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है ।[2] दूसरी बात इस प्रकार की विचारधारा में [illegible] वाली यह है कि इस में ईश्वर और पृथिवी आदि परमाणुओं के अस्तित्व तथा ईश्वर के सर्वशक्तिमान् सिद्ध करने में भी बाधा होती है । क्योंकि सर्वशक्तिमान् में कर्तुमकर्तुं, अथवा अन्यथाकर्तुम्‌ की पूर्ण सामर्थ्य होती है । परन्तु यदि न्याय-वैशेषिक वाले कहें कि ईश्वर परमाणु नहीं बन सकता है तो उसके सर्वकर्तृत्व की हानि होती है और यदि वह बन जाता है, तो उस पर जड़त्व का [illegible]

---

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ [सां० का० ९]

2. नासतो विद्यते भावो,
नाभावो विद्यते सत: [भ०गी० २/१६]

है - आदि आदि ।

सांख्य योगवादियों के परिणामवाद के अनुसार एक अस्तित्व-युक्त वस्तु (कारण) परिवर्तित होकर दूसरे रूप (कार्य) में दिखाई देती है । जैसे दूध का दही बन जाना देखने में दही भी दूध से गुणदोषादि सभी बातों में पृथक् सा दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह दूध का ही रूपान्तरितरूप होता है । इस प्रकार के परिणाम को विकृत या विरूप परिणाम कहते हैं । स्वर्ण का कटक-कुण्डलादि के रूप में तथा मिट्टी का घटादि रूप में परिवर्तित होना अविकृत या सरूप परिणाम कहलाता है । अत: इनके अनुसार प्रकृति पुरुष के सान्निध्य से विविध रूपों में परिणत होकर जगत् - प्रपञ्च का निर्माण करती है । इस मत में प्रकृति जड़ होती है और पुरुष चेतन होते हुये भी निष्क्रिय एवं उदासीन होता है ।

वह प्रकृति में अपने प्रतिबिम्ब के पड़ने से उस में प्रकाशित होने वाले सुख - दु:ख को अपना मानकर कर्ता - भोक्तादि होने का अनुभव करता है । [illegible] में यह प्रकृति का ही विकार होता है और वह उसे अपना समझकर बन्धन में पड़ता है । परन्तु इस मत में सब से बड़ा दोष यह है कि जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष का मिलाप स्वयं तो कदापि नहीं हो सकता और दूसरा कोई करवाने वाला होता नहीं, तो फिर सृष्टि, बन्ध - मोक्ष इत्यादि कैसे सम्भव हो सकते हैं ? यद्यपि योग वालों ने प्रकृति - पुरुष के अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता भी मानी है, परन्तु वह भी एक पुरुष विशेष ही होता है,[1] कोई सार्वभौम, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान् सत्ता नहीं । पाशुपत, वैष्णव, विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजादि भी परिणामवादी ही हैं । अत: उनका मत भी यथार्थ नहीं है ।

विवर्तवादी वेदान्तियों के अनुसार जगत् सच्चिदानन्द ब्रह्म के विवर्तमात्र से दिखाई देता है । विवर्त से तात्पर्य है - अत्यन्त असत् की प्रतीति होना । जैसे - रज्जु में सर्प । इसी प्रकार ब्रह्मरूप अधिष्ठान में जीव को जगत् का भ्रम हुआ करता है । अर्थात् यह जगत् अत्यन्त असत् होते हुए भी अज्ञान के कारण

---

1. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर: (प०यो०द० 1/24)

सत्य - सा दिखाई देता है । अत: ज्ञानसे अज्ञान को हटाने से सब दु:ख दूर होकर मोक्ष मिल जाता है । परन्तु इस मत में भी सब से बड़ा दोष यह है कि अविद्या कोई वस्तु ही नहीं, अर्थात् जगत् अत्यन्ताभाव रूप है, तो उसकी प्रतीति कैसे होती है ? यदि प्रतीति है, तो प्रतिभासित सत्ता को स्वीकार करना होगा और सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भ्रम कहना ही भ्रम होता है । इसीलिये ये सभी मत जगत् के अस्तित्व की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकते हैं ।

<u>स्वातन्त्र्यवाद का मण्डन</u> : आचार्य के अनुसार उपर्युक्त सभी मत न्यूनाधिक रूप में साधारण कोटि के अधिकारियों के लिये ही हैं । वास्तविक मत तो स्वातन्त्र्यवाद का है, जिसके अनुसार ये सभी विवाद (आरम्भवाद आदि) कल्पना मात्र हैं और इनका मूल चिदात्मा[1] अर्थात् सच्चिदानन्द, पूर्णाहन्ता - रूप, स्वात्माराम, अद्वितीय और परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूप महेश्वर ही है।[2] अत: इस सिद्धान्त के अनुसार एक पारमार्थिक सत्ता वाला महेश्वर अपनी अचिन्त्य स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से स्वयं को आधार बनाकर किसी दूसरे साधन की अपेक्षा के बिना ही शिवादि धरणि पर्यन्त तत्त्वों तथा शिव से लेकर सकल प्रमाता पर्यन्त समस्त जड़-चेतन प्रमाता - प्रमाण - प्रमेयरूप विश्व - प्रपञ्च को अभिव्यक्त करता है । इससे उसके अपने अक्षर रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है । वह इस स्वातन्त्र्य के बल पर ही अपने परिपूर्ण रूप में अपूर्णता का आभास प्रकट करके आणवमल, अपृथक् होते हुये भी पृथकता का प्रकाशन करके मायीयमल और परिपूर्णकर्ता होते हुये सीमित कर्तृत्व के अभिमान एवं शुभाशुभ कर्म की वासना से युक्त होकर कार्ममल का प्रकाशन करता है । अपनी असीमित चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों में संकोच करके सीमित सामर्थ्य वाला बन जाता है । उसकी सर्वकर्तृत्व...

1· आरम्भ: परिणामो वा विवर्तो वा चिदात्मनि ।
बालान् प्रत्येव विद्वांस प्रति सर्वं प्रकल्पितम् ॥ (आ·वि· 3/18)

2· स्वतन्त्र: सच्चिदानन्द: स्वात्मारामो महेश्वर: ।
परमोऽहम्महोरूपी स्वविलासो जयत्यसौ× ॥ (आ·वि· 3/1)

सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियाँ संकुचित होकर कला, [illegible] राग, काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। जिस से वह स्वतन्त्ररूप [illegible] (पति) होता हुआ भी परतन्त्ररूप जीवभाव (पशुभाव) का अनुभव करता है।

यह परतन्त्रता ही सभी दुःखों का मूल होती है,[2] जो उसकी स्वेच्छा से ही अवकल्पित होती है।[3] इस प्रकार से आत्मा अपने स्वातन्त्र्य से ही अवकल्पित पाशबन्धनों द्वारा जीवभाव को प्राप्त होता हुआ भी किसी आनन्द का ही अनुभव करता है[4]। अर्थात् पतिदशा (शिवदशा) मोक्ष एवं जीवदशा (पशुदशा, बन्धन) उस की अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के विलास मात्र ही हैं। वह इन दोनों दशाओं में एक आनन्द का ही अनुभव करता है, जिस प्रकार एक बालक अपने चारों ओर चक्कर लगाता हुआ गिरता है, पुनः उठता है और ऐसा करने में किसी आनन्द का अनुभव भी करता है[5]। तात्पर्य यह है कि परमशिव अपनी [illegible] स्वतन्त्रता से अपने ही भीतर अपने ही आप को जीवरूपता से प्रकाशित करता रहता है। जिस तरह दर्पण में नील, पीतादि विविध वर्णों का आभासमात्र होने से [illegible] में कोई विकार नहीं आता, उसी तरह से परमशिव अपने भीतर कोई विकार न लाते हुए ही जीवता को प्रतिबिम्ब की तरह स्वयं अपने विलास से प्रकट करता रहता है। [illegible] जीवता के अवभास का कारण है। इसी दशा में सुख - दुःख इत्यादि रूप भोगों

---

1. स्वतन्त्रैव शिवता जीवता परतन्त्रता।
   शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते॥ (आ. वि. - 3/5)
2. "दुःखमूलं पारतन्त्र्यम्" (तदेव - 3/2)
3. परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्ति कारणम् (तदेव - 3/4)
4. एवं आत्मा विलासेन कल्पितैः पाशबन्धनैः।
   जीवभावं भजन् कश्चिदानन्दं विन्दते मुहुः॥ (आ. वि. - 3/22)
5. स्वात्मन्ताद्यथा बालो भ्रान्त्वा भ्रान्तः पतन् भुवि
   उत्तिष्ठति भ्रान्तिनाशे स्वानन्दनिरतो मुहुः॥ (तदेव - 3/21)

भोगने से और शुभाशुभ कर्मों के करने से नाना प्रकार के कष्टों को पाता है । एक योनि से दूसरी योनि में संचरण करता है । पुनः अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से ही श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के अनुग्रह से स्वयं के श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होने को जानकर सच्चिदानन्द रूप में विहार करता है अर्थात् परिपूर्ण शिवरूप हो जाता है[1]। अतः परमसत्ता का स्वातन्त्र्य ही उसके विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय स्वरूपों में अवभासन का मूलकारण है । इसीलिये कहा गया है कि विलास अर्थात् स्वातन्त्र्य शिवरूप ही है और शिव स्वातन्त्र्यरूप ही[2]। अर्थात् वह स्वप्रकाश सर्वैश्वर्यसम्पन्न भगवान् परिपूर्ण स्वातन्त्र्य स्वभाव है और ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ-पर्यन्त सभी उसके अधीन हैं अर्थात् उसी की सत्ता से सत्तावान् होते हैं ।[3] यही कारण है कि सदा पशु से लेकर देवता तक और मूर्ख से लेकर बुद्धिमान पर्यन्त आनन्दामृत - समुद्ररूप स्वातन्त्र्य को ही चाहते हैं[4] इसीलिये आचार्य ने कहा है कि आत्मा स्वतन्त्र स्वभाव है और उस के स्वातन्त्र्य के प्रत्यभिज्ञान से पशुओं को पशुपति अर्थात् परशिव स्वरूपता की प्राप्ति होजाती है ।[5]

महाविद्या :- स्वात्मविलास में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा (आत्मा) की स्वविलासरूपा और विद्या-अविद्या को प्रकाशन करने वाली, ...

1\. श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्व श्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठतः ।
विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरता सदा ।। (आ० वि० - [illegible])

2\. विलासो न स्वतो भिन्नो विलासादपि न स्वयम् ।
तदेतद् सच्चिदानन्दमद्वैतं पारमार्थिकम् ।। (तदेव - 2/3)

3\. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशानुगम् ।
स्वप्रकाशः स भगवान् स्वतन्त्रः परमार्थतः ।। (तदेव - 3/3)

4\. इच्छन्ति नित्यमिह सौख्यसुधासमुद्रं स्वातन्त्र्यमेव पशुपक्षमरादयोऽपि । (तदेव -3/24)
तस्मात् बुधैः खलु तदेव समर्थनीयं नान्यत किमप्यपरमस्तिहि ... (तदेव 3. 25)

5\. " मरणमेव अपवर्गः " (शा० सू० - ...)

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या तथा तदतीत भी जो जानती है, उसे महाविद्या कहा जाता है । क्योंकि यदि सोने वाला सचमुच ही सोता हो, तो उसको यह नहीं मालूम हो सकता कि " मैं सोता था ।" अतः सोना एक अवस्था मात्र ही है । तथा उस का जानने वाला सोते हुये भी जागता रहता है । इसलिये उस को पूर्णज्ञान स्वरूप (महाविद्या) कहना उचित है । इसी को " महामाया" नाम से भी अभिहित करना इसलिए उचित है कि यह " अघटितघटनापटीयसी " अर्थात् जो न हो सके उसको भी कर दिखाने वाली शक्ति माया कहते हैं । जो सर्वथा अज्ञेयरूपा है । वास्तव में वह महाविद्या से पृथक् नहीं । जैसे गौ के स्तन से निकले हुये दूध में घी रहता है अथवा नहीं ? इस प्रश्न के निर्णय में मानना होगा कि अवश्य ही रहता है । चाहे वह फिर घी के रूप में हो या नहीं वह अवश्य "है" यह तो कहना ही होगा । इसी तरह आत्मतत्त्व जिस समय महामाया स्वरूप रहता है, उस समय यह कहना कठिन पड़ता है कि वह है या नहीं । इसी कारण आत्मा के अभाववादी बौद्ध, जैनादि कहते हैं कि आत्मस्वरूप नहीं है । वस्तुतः देखा जाय तो वह महाविद्या - स्वरूप ही है । अर्थात् सर्वदा प्रकाशित ही है । महामाया का अज्ञेयरूप स्वभाव ही यह है कि वह बड़े - बड़े ज्ञानियों को भी मोहित कर जाती है । क्योंकि जिस प्रकार अपनी छाया का उल्लंघन अपने ही पैरों से कभी भी नहीं हो सकता अथवा पुत्र अपने पिता की उत्पत्ति को नहीं देख सकता, तथा नमक का ढेला समुद्र का पता नहीं बता सकता, उसी प्रकार इस आत्मविलास का पता बताया नहीं जा सकता । इसीलिए यह नहीं हो सकता कि किसी वस्तु का पता ज्ञात न होने से वह वस्तु ही नहीं है । जैसे छाया का उल्लंघन न होने से छाया है, पिता की उत्पत्ति को न देखने पर भी पिता और नमक से समुद्र का पता न लगने पर भी उस का अस्तित्व रहता ही है। इसीलिये उसको महाविद्या और महामाया कहा गया है । यह महाविद्या महामायास्वरूपिणी महा अमा है । जैसे अमावस्या को चन्द्रमा अपनी सोलहों कलाओं से अपने आत्मस्वरूप सूर्य में सूर्यरूप से ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार सम्पूर्ण अमाएं (मायाशक्तियाँ) अपने आत्मस्वरूप से एक ही अधिष्ठान में अज्ञात रूप से विद्यमान रहती ही हैं ।

---

१. अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ (सां॰का॰, ७)

इसीलिए इस आत्म - स्वरूप को महामाया कहा जाता है । दूसरी दृष्टि से देखने पर जैसे यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अमा भी एक प्रकार से पूर्णिमा ही है । अर्थात् उस दिन भी सोलह कलाएं अपने आत्मस्वरूप सूर्य में पूर्णरूप से विकसित होकर विद्यमान रहती हैं; क्योंकि विकसित होना ज्ञान का स्वभाव होता है । इसलिए जिस आत्मरूप अधिष्ठान में सम्पूर्ण पूर्णिमाएं विकासभाव से अवस्थित होती हैं, उस पूर्णमासी को महाविद्या के नाम से अभिहित करना उचित ही है । आत्मा (परमसत्ता) का अद्वैत तत्त्व एवं सर्वदा परिपूर्ण होना ही उसके महामाया एवं महाविद्या रूपों में प्रकाशित होने की सार्थकता का परिचायक है ।

महाविद्या के विलास द्वारा प्रकाशित होने के कारण विद्या एवं अविद्या चेतन कही जाती है और पृथक् - पृथक् रूप से अपूर्ण होने के कारण जड़ है ।[1]

कुछ वेदान्तादि दार्शनिकों द्वारा विद्या को चेतन और अविद्या को जड़ माने जाने के अनौचित्य का निराकरण करते हुए[2] कहा गया है कि यदि आत्मा को प्रकाशित करने के कारण अविद्या को भी चेतन ही कहा जाना चाहिए ।[3] यदि अविद्या को आत्म - प्रकाशिका होने के कारण चेतन और उसकी अभाव स्वरूप होने से अविद्या को जड़ कहा गया है, तो विद्या द्वारा आत्मा का प्रकाशनमात्र करने और उसका प्रच्छादन न करने के कारण वह एकाङ्गी होने से पूर्ण नहीं हो सकेगी ।

---

1. विलासोल्लासितत्वेन विद्याऽविद्ये तु चेतने ।
अपूर्णत्वाज्जडे ते स्तो जडाऽजडे इमे ततः ।। (आ० वि० - 4/2)

2. विद्याऽजडा जडाऽविद्या इति केचिद्वदूचिरे ।
अविद्यारितमेवास्तु रमणीयं सुदूरत: ।। (तदेव - 4/3)

3. स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या चेदजडा तत: ।
जगत्प्रकाशकत्वेना विद्या किं ना जडा भवेत् ।। (तदेव - 4/4)

4. स्वात्मप्रकाशिका विद्या स्वात्मप्रच्छादिका न हि ।
एकाङ्गविकलत्वेन कथं पूर्णा भवेदहो ।। (तदेव - 4/5)

दूसरे यदि अविद्या को अभावरूप मानने से वह जगत् की उत्पादिका हो ही नहीं सकती तो यह मत अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने वाले बौद्धों की भाँति असंगत है।[1] इसलिए उसमें जड़ता का दोष आ जाएगा। इसी प्रकार अविद्या के द्वारा जगत् का प्रकाशनमात्र करने एवं उसका प्रच्छादन न करने से उसके भी विकलांगी होने से वह भी पूर्ण (चेतन) नहीं कही जा सकेगी।[2] क्योंकि अपूर्ण को ही जड़ और पूर्ण को ही चेतन कहते हैं। अतः दोनों आपेक्षिक होने के कारण पारमार्थिक चैतन्य नहीं है। अतः पूर्णदृष्टि (पूर्णज्ञान, आत्मदृष्टि) परमेश्वर है, चेतन है। जिस में पूर्ण और अपूर्ण दोनों भाव होते हैं, वही परिपूर्ण, परमसत्ता (आत्मा) अभिहित होता है। अतः आत्मस्वरूप तो पूर्ण है और उसकी पूर्णता आपेक्षिक नहीं, प्रत्युत वस्तुतः है।[3] इस बात के लिए श्रुति,[4] स्मृति आदि सम्पूर्ण ग्रन्थ और स्वानुभव प्रमाण हैं।

यदि नश्यमानता के कारण अविद्या को जड़ कहा गया है, तो विद्या भी उसकी प्रतियोगिनी होने के कारण अनायास ही नश्यमान होने के कारण जड़ सिद्ध हो जाती है।[5] यदि जगत् के असत् होने से अविद्या के अतीव निष्प्रयोजनत्व से उसे जड़ कहा जाता है[6] तब आत्मा के भी स्वयं

---

1. अविद्याऽभावरूपा चेज्जगदुत्पादिका कथम्
यद्यस्त्यभावतो भावोत्पत्तिरङ्गीकृता न किम्
भवद्भिरास्तिकैरेवं मतं वेदास्तिका अहो,
सन्तु धन्या भवन्तोऽपि बौद्धखान्तावेषकाः (आ॰वि॰ 4/15,6)
2. जगत्प्रकाशिकाऽविद्या जगत्प्रच्छादिका न हि।
अतो नाऽर्हति पूर्णत्वमविद्या विकलाङ्गिनी ।। (तदेव - 4/6)
3. अपूर्णं जडमित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते।
अपेक्षिकं तु चैतन्यं पूर्णं न परमार्थतः ।। (तदेव - 4/7)
4. पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।। (बृ॰उप॰ - 5/1/1)
5. यद्युच्येत जडाऽविद्या नश्यमानतया ननु।
विद्याऽपि नश्यमानत्वाज्जडा भवितुमर्हति ।। (आ॰वि॰ - 4/8)
6. नास्त्येव यज्जगत्तस्योल्लासने किं प्रयोजनम्।
निष्प्रयोजनतया सा यदविद्या जडा भवेत् (तदेव - 4/9)

प्रकाश होने से विद्या, जैसे सूर्य प्रकाशित करने के लिए दीपक का भी निष्प्रयोजनत्व सिद्ध हो जाने से वह जड़ ही कही जाएगी[1]। यदि मूर्ख को पढ़ाने वाला अध्यापक मूर्ख बन जाता है अथवा स्वयंप्रकाश सूर्य अन्धकार को प्रकाशित करने के कारण स्वयं जड़ हो जाता है, तब तो जड़ को प्रकाशित करने के कारण अविद्या को भी जड़ माना जा सकता है। परन्तु ऐसा न होने के कारण इसे भी जड़ नहीं कहा जा सकता।[2] यदि कुछ दार्शनिकों द्वारा जीव को स्वात्मविज्ञान में सहायता देने के कारण विद्या को चेतन कहा गया है और इस के विपरीत अविद्या को जड़, तो ऐसे स्थूल[3] दृष्टि वालों से पूछा जाता है कि जीवता विद्या के कारण होती है अथवा अविद्या के कारण ? यदि वे अविद्या को जीवत्व की उल्लासिनी मानते हैं, तो वह प्रकाशन स्वभाव के कारण चेतन ही कही जाएगी[4]। यदि अविद्या को अभावरूपिणी न मान करके विपरीत ज्ञानरूपा माना गया है, तो उसकी जड़ता कभी भी सिद्ध नहीं हो सकती है।[5] क्योंकि विद्या के यथार्थ और अयथार्थ होने पर भी वह क्रियारूप से सत् ही होती है। अतः चेतन होती है। सम्यक् ज्ञान या विपरीत ज्ञान केवल - सत् (केवली) के आधार पर ही (केवली) कल्पित होता है और दोनों रूपों में ज्ञान (चेतन) ही होता है। एक वह (सत्वस्तु) मयूराण्ड-रसन्याय से पूर्ण समरस है। अर्थात् उस सत् वस्तु में आपेक्षिक "नहीं" और है" इन दोनों के समरस आधार में विद्या एवं अविद्या इन दोनों का बीज है। वह मूलभूत समरस तत्त्व ही अपने विलास के द्वारा कल्पना करता हुआ एक ओर से विद्या के रूप में और दूसरी ओर से अविद्या के रूप में प्रकट होता रहता है।

---

1. नास्ति विद्या यदि व्यर्था स्वप्रकाशप्रकाशिनी।
   तदा भानोः प्रकाशाय दीपाऽपेक्षा भवेन्नु ॥
   तदा स्वयम्प्रकाशस्य स्वात्मनो या प्रकाशिका,
   निष्प्रयोजनतया सा जडा विद्या न किं भवेत् ॥ (आ॰वि॰ - 4/10, 11)
2. जडप्रकाशकत्वेन जडाऽविद्या भवेद्यदि। अध्यापकोऽपि मूर्खस्य मूर्ख एव भविष्यति।
   स्वयंप्रकाशस्य भानोरन्धकार प्रकाशनात्। जडत्वं स्याद्यदि ततो विद्याऽपि जडा भवेत् ॥ (आ॰वि॰4/11, 12)
3. जीवस्य स्वात्मविज्ञान साहाय्यकरणादसौ।
   चेतना कीर्त्यते विद्या इति चेत् स्थूल दृग्भवान् (तदेव - 4/17)
4. जीवता कुत आयाताऽविद्यया वाऽथ विद्यया।
   अविद्या चेत् जीवत्वोल्लासिनी चेतना न किम् (तदेव - 4/18)
5. विपरीतज्ञानरूपाऽविद्या नाभावरूपिणी।
   इति चेज्जडता तस्याः सुतरां नैव सिद्ध्यति ॥ (तदेव -4/9)

इसी को आत्मविलास रूप होने के कारण महाविद्या, महामाया, पूर्णस्वातन्त्र्य तथा पूर्ण चैतन्य कहते हैं ।[1] अत: अमृतवाग्भव आचार्य के मत में विद्या और अविद्या दोनों पारमार्थिक नहीं और इन सभी रूपों में सर्वत: स्वात्मरूप महाविद्या प्रकाशित हो रही है ।[2] अत: सच्चिदानन्द स्वरूप पारमार्थिक सत्ता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, इसलिए स्वात्मा के एकमात्र उल्लास होने के कारण कल्पक, कल्पना, तथा क्लृप्त सच्चिदानन्दस्वरूप ही है ।[3] यह स्वात्मरूप महाविद्या सदसद्वर्जित (अनिर्वचनीय) और सदसद्व्यवहार की अधिष्ठान (निर्वचनीय) रूप है विश्वोत्तीर्ण है और विश्वमयी भी है।[4] यह महाविद्या शिवरूप, अपारा, भव (संसार) रूपी सागर की सार (शिव की शक्ति) गुरु श्रेष्ठरूपिणी, कृपा की समुद्र, भक्तों के लिए अमृत की वर्षा करने वाली मेघश्रेष्ठ उमाकारा, ओंकारा अपने स्वाभाविक सौन्दर्य में रमण करने वाली और परमानन्दरमणी है ।[5]

<u>पूर्णनैर्मल्य (पूर्णस्वातन्त्र्य परिपूर्णकर्तृता):</u>

नैर्मल्य — मालिन्य

॥ ॥

(विद्या, ज्ञान) (मल, अविद्या)

आचार्य के अनुसार विपरीत ज्ञान को मल कहा गया है, जो कि संसार का प्रकाशन करने वाला होता है । अत: अविद्या (ज्ञान) को भी मल कहा गया है । संसारीभाव का उच्छेदन (नाश) करने वाले यथार्थ ज्ञान को नैर्मल्य (विद्या) कहा गया है ।[6] तात्पर्य यह है कि आपेक्षिक विद्या एवं अविद्या ही निर्मलता तथा मलिनता है, जिस से संसार की उत्पत्ति एवं विनाश होता है ।

मालिन्य और नैर्मल्य से अतीत जो पूर्ण नैर्मल्य तत्त्व है, वह तो सर्वत्र ...

---

1. परीता विपरीता वाविद्या विद्यातया तुसत् ।
वैपरीत्यं सौपरीत्यं कल्पितं केवले सति ॥ (आ॰वि॰4/18)

2. अस्मन्मते त्वविद्या वा विद्या वा नास्ति तत्त्वत: ।
महाविद्या स्वात्मरूपा समुल्लसति सर्वत: ॥ (तदेव 4/21)

3. कल्पक: कल्पना क्लृप्तं स्वात्मोल्लासैकमात्रकम् ।
सच्चिदानन्दस्वरूपं ततोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ॥ (तदेव 4/22)

4. सदसद्वर्जिता सैषा सदसद्व्यवहारभू: ।
विश्वोत्तीर्णा विश्वमयी स्वात्मरूपा विराजते (तदेव 4/23)

5. शिवाकारापारा भवजलधिसारा गुरुवरा कृपापारावारा भजदमृतधाराधरवरा
उमाकारोङ्कारा निजसहज सौन्दर्यरमणी महाविद्यासैषा जयति परमानन्दरमणी ॥ (तदेव 4/24)

6. मालिन्यमन्यथा ज्ञानं संसारोल्लासकारणम् ।
ज्ञानं यथार्थं नैर्मल्यं संसारोच्छेदकारणम् ॥ (तदेव - 5/2)

तथा सर्वज्ञ, परिपूर्ण चैतन्य स्वयंप्रकाशस्वरूप, परिपूर्णस्वतन्त्र अथवा महाविद्यास्वरूप परिपूर्ण परमसत्ता ही है। अभिप्राय यह है कि चाहे जीव भाव हो अथवा शिव भाव दोनों कल्पित हैं एवं दोनों ही अपेक्षा से मलिन तथा निर्मल कहे जाते हैं, जो कि कल्पित ही है। अतः वह मालिन्य और नैर्मल्य के रूपों में स्वयमेव प्रकट होता हुआ उन रूपों में ठहरता है। इसलिए वे दोनों तद्रूप होते हुए उससे भिन्न नहीं हैं। तथापि वह समझाने के लिए उनसे अतीत भी कहा जाता है। मालिन्य और नैर्मल्य के उदय और लय के होते रहने पर भी उस के पूर्ण नैर्मल्य स्वरूप में कोई भी विकार नहीं आता है, वह सदैव वैसे का वैसा ही बना रहता है।[1] इस तरह इन दोनों से प्रभावित न होने के विचार में उसे इनसे अतीत कहा जाता है। जैसे शशशृंगादिक कल्पित होने मात्र से (उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता न होने से) ही उनका व्यवहारिक जगत् में किसी प्रकार से स्पर्शादिक नहीं हो सकता है, वैसे ही वस्तुसत् परमात्मस्वरूप से कल्पित मलों का स्पर्श नहीं हो सकता है। अतएव वह मलों से नित्यमुक्त ही है। चूंकि परिपूर्ण नैर्मल्य आत्मस्वरूप ही है, उससे पृथक् कुछ नहीं। अतः यह महाविद्यास्वरूप "आत्मविलास" ही नाना प्रकार से प्रकाशित हो रहा है।[2]

<u>पूर्णकर्तृत्व</u> :- आत्मस्वरूप स्वभावशक्ति को ही विलास कहा जाता है। तथा उसी के एकमात्र अधिष्ठान पर उसी के कारण अथवा उसी की क्रिया इच्छादि अनन्त शक्तियाँ होती हैं, जिन्हें साधारण विभाग से समझने के लिये तीन भागों में विभक्त किया जाता है। अत्यन्त स्थूल शक्ति का नाम क्रिया, उस से सूक्ष्म शक्ति का नाम ज्ञान तथा उससे भी सूक्ष्म शक्ति का नाम इच्छा कहा जाता है। एवं इन तीनों में अनुगत महाकारण - रूप शक्ति का नाम ही विलास है। यह (भी इन कल्पित तीन के कारण चौथी) (विलास=आनन्द) है तथा विलास की ही पराकाष्ठा को समझने के लिए परमात्मा, परशिव (चित्) कहे है। वस्तुत: विलास तथा आत्मा (चिदानन्द) भिन्न नहीं। इच्छादिक भी पृथक्

1. सम्पूर्णमलनैर्मूल्यशासनोल्लासनोदित:। (आ॰ वि॰ 5/1)
मलास्पृष्टो विजयते परम: परमेश्वर:॥

2. उभाभ्यामप्यतीत यत् पूर्ण नैर्मल्यमेव तु।
स्वात्माभिन्न महाविद्यास्वरूप ताद्विराजते॥ (आ॰ वि॰ 5/22)

नहीं होती है । परन्तु यह रहस्य बिना सद्गुरु की उपासना से प्राप्त नहीं होता । पारमेश्वरी महाशक्ति (आत्मस्वरूप) की पूर्ण स्थूल दशा का नाम ही क्रिया शक्ति है । इस क्रिया शक्ति के कारण ही कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व इन दोनों भावों का आत्मस्वरूप में विलास होता है । यदि क्रियाशक्ति का विकास न हो, तो कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व उत्पन्न नहीं हो सकते । विश्वसृष्टि में आत्म-स्वरूप की पूर्ण विकसित अवस्था में क्रियाशक्ति का ही सर्वत्र बोलबाला होता है । यद्यपि जिन की श्रवणशक्ति, मनन - शक्ति एवं निदिध्यासनशक्ति पूर्णरूप से विकसित होती है, उनको तो शेष सूक्ष्म शक्तियों की स्थिति का भी सब कुछ ज्ञात हो जाता है, किन्तु साधारणजन तो क्रिया शक्ति को ही देखा करते हैं । अत्यन्त क्रियाप्रधान पुरुषों को गौतम (न्याय) कणाद (वैशेषिक) आदि आचार्य समझाते हैं कि नित्य द्रव्यों के संयोजन - वियोजन आदि से विरचित विश्व की सृष्टि का कर्ता (निमित्त) होने से आत्मा (ईश्वर) विश्वकर्ता है । वेदान्ती लोग इच्छा प्रधान पुरुषों को जगत् का आकाश - पुष्प के समान मिथ्यात्व समझाते हुए आत्मा (ब्रह्म) को अकर्ता कहते हैं । ज्ञानप्रधान पुरुषों को आत्मस्वरूप समझाने के लिए प्रकृति - पुरुष विवेक करना सांख्य वाले तथा ईश्वर के अनुग्रह अथवा चित्तवृत्ति निरोध से आत्मस्वरूप चित्त (चिति) प्रकाशित होना योग वाले बतलाते हैं । परन्तु इन सभी बातों के सीमित होने के कारण पूर्णदृष्टि से निराशंस पुरुषों को उन की पूर्णाहन्ता की अविचलित एकरस आत्मस्वरूप अवस्थिति रखने के लिए आरम्भ, परिणाम तथा विवर्त इन तीनों से अतीत अखण्ड निर्विवाद, स्वयं सिद्ध अनुभव से सिद्धसम्प्रदाय के अनुसार " आत्मविलास" में आत्मा के पूर्णकर्तृत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है । जिस के अनुसार सर्वदा, सर्वत्र " अहम्" रूप से परिपूर्ण परशिव कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व में समरसभाव से व्याप्त रहता है । अत: ऐसे परमात्म - स्वरूप को पूर्णकर्ता कहा जाता है सम्पूर्ण जगत् (जाग्रत, स्वप्न सौषुप्त) को स्थूल, सूक्ष्म तथा अत्यन्त सूक्ष्म रूप से देखने पर ज्ञात हो जाता है कि यह सम्पूर्ण " अहम्" से परिपूर्ण है, अहम् ही है । द्वैतदृष्टि में " अहम्" से संचालित है । परन्तु अद्वैतदृष्टि में " अहम्" अतिरिक्त मृगजल होने के कारण " अहम्" ही है । परन्तु इससे भी परे अद्वैत

कल्पित आपेक्षिक द्वैत अथ च अद्वैत इन दोनों को समरस परिपूर्ण ही देखने पर ज्ञात हो जाता है कि वस्तुत: इनमें ओत - प्रोत भाव से एक ही वस्तु परशिव व्याप्त है । जो कि छत्तीस तत्त्वों का भी परस्वरूप शिव (कल्याण स्वरूप एवं आत्मस्वरूप) है । साक्षी, चिन्मात्र (प्रकाशमात्र) होने से सब कुछ यही है ।[1] क्योंकि प्रकाशमात्र के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं हो सकती । जो (न्यायवादी) इस को विश्वकर्ता कहते हैं और जो (वेदान्ती) उसे अकर्ता कहते हैं, वस्तुत: दोनों ही बातें आपेक्षिक अर्थात् कल्पित होने से असत् (कल्पितमात्र) हैं ।[2]

कल्पित की जब आत्मस्वरूप से अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं तब उसका कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व कहां हो सकता है ? केवल अकर्तृत्व मानने से जड़ता और केवल कर्तृत्व मानने से द्वैतता का आरोप होता है । अत: अद्वितीय स्वात्ममात्र में कर्तृता - अकर्तृता कहां, कैसे ?[3] यदि वेदान्तियों द्वारा ऐसा कहा जाए कि जो वस्तु है ही नहीं तन्निरूपित कर्तृत्व का आरोप कहां किया जाएगा ? इसलिए आत्मा अकर्ता है ।[4] जैसे शशशृंग का कोई कर्ता नहीं होता है, उसी प्रकार जगत् का भी कर्ता नहीं है ।[5] उनका इस प्रकार आत्मा को

---

1. साक्षीचिन्मात्ररूपोहम्परमात्मा पर: शिव: ।
   कर्तृताकर्तृतास्पृष्ट: पूर्णकर्ता जयत्यसौ ।। (आ० वि० - 6/1)
2. वदन्ति केचिदात्मानमकर्तारं तथापरे ।
   विश्वकर्तारमिति तद् वस्तुतो द्वयमप्यसत् ।। (तदेव - 6/2)
3. अकर्तृत्वे जडत्वं स्यात् कर्तृत्वे द्वैतामापतेत् ।
   अद्वितीये स्वात्ममात्रे कर्तृताकर्तृते कथम् ।। (आ० वि० 6/3)
4. ननु यद्वस्तु नास्त्येव कर्तृता तन्निरूपिता ।
   कुत्र वारोप्यतामेवमकर्ताऽऽत्मेति केचन ।। (तदेव " 6/5)
5. यथा शशविषाणस्य कर्ता केनापि नेष्यते ।
   जगतोऽपि तथा कर्ता नास्तीति मनुतां भवान् ।। (तदेव - 6/6)

अकर्ता कहना उचित नहीं बनता है । कारण यह है कि इस बात को कि परमात्मा है - वह कर्ता है - अथवा अकर्ता है, कुछ भी मानने पर " मैं हूँ" इस बात को तो मानना ही पड़ेगा । यहाँ पर अहन्ता के अस्तित्व स्वीकार करने से उसके चेतनरूप एवं पूर्णस्वतन्त्रत्व को मानना ही पड़ेगा। अतएव आत्मस्वरूप का अकर्ता होना सिद्ध नहीं होता । एवं यदि आत्मा के अकर्तृत्व को मानने में ऐसा करते हों कि मैं सर्वथा वर्तमान प्रत्ययगोचर होने से सर्वदा विज्ञात हूँ, इसलिये अकर्ता ही हूँ ।[1] इस प्रकार प्रत्यक्ष चिन्मात्र आत्मा को विज्ञानस्वरूप मान कर भी कर्ता न मानना, उसे जड़ मानने के समान है । तात्पर्य यह है कि विज्ञान जब अपने विकसित स्वरूप को स्वयं अपरोक्ष - सा जान लेता है । अर्थात् अपना स्वयं अनुभव करता है, तो वह अवश्य ही अनुभव करता हुआ उस अनुभव क्रिया का कर्ता होता है । अतएव स्वतन्त्र होता है । ऐसा न मानने से वह परतन्त्र होते हुए जड़ हो जाएगा [2]। दूसरे, आत्मा के कर्तृत्व ज्ञान के बिना अकर्तृत्व का ज्ञान सिद्ध ही नहीं होता ।जैसे जिसको घट - ज्ञान ही नहीं, वह " यहाँ घट नहीं है" ऐसा नहीं कह सकता । अत: " आत्मा अकर्ता है" वेदान्तियों का ऐसा कहना असंगत है । [3] यदि कर्तृत्व ज्ञान के बिना ही अकर्तृत्व ज्ञान माना जाए, तो एकांगी ज्ञान होने से निर्णयात्मक नहीं हो सकता । [4] ।

1· यदि ब्रवीषि विज्ञातास्म्यहम्प्रत्ययगोचर: ।
सर्वथा वर्तमानोहमकर्तैव न संशय: ।। { आ· वि· - 6/7 }

2· एवं वदन् भवान् स्वयं जड़ात्मा नैव संशय: ।
प्रत्यक्षचिन्मात्र रूपस्यात्मानुग्रहवञ्चित : ।। { तदेव - 6/8 }

अकर्तृत्वं पुन: किं ते कर्तृत्वाभाव एव वेद ।
अकर्तृत्वं न सिद्ध्येतते कर्तृत्वज्ञानमन्तरा ।। { तदेव - 6/9 }

4· कर्तृत्वज्ञानरहितोकर्तृत्वज्ञानवान् भवान् ।
एकाङ्गविकलत्वेन गुर्वनुग्रहमर्हति ।। { तदेव - 6/10 }

यदि वेदान्ती आत्मा के कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों के अधिष्ठानभूत चित्स्वरूप के पूर्णकर्तृत्व को मानते हैं, तो उस दशा में आपेक्षिक ज्ञानों के होने पर भी कोई विरोध नहीं है ।[1] तात्पर्य यह है कि कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों परस्पर अवलम्बी एवं परस्पर विरोधी कल्पितमात्र भाव हैं । अतः इन के मूल {ज्ञान} में कोई भेद नहीं हो सकता । अतएव दोनों प्रकार का {पूर्णज्ञान} जिस में हो, वह ही चित्स्वरूप पूर्णकर्ता परशिव होता है ।[2] सिद्धमत में आत्मा के परिपूर्ण कर्तृत्व माने जाने का एक यह भी कारण है कि केवल कर्तृत्व अथवा अकर्तृत्व माने जाने से वह एकाङ्गी होगा, अतएव अपूर्ण[3] यदि ऐसा कहा जाए कि कर्तृत्व और अकर्तृत्व परस्पर विरोधी होने से समानाधिकरण में नहीं रह सकते, तो उसके परिहार में सिद्धमतानुसार ज्ञानवत् तथा ज्ञान में लेशमात्र भी भेद नहीं होता है । इसीलिए वहाँ द्वैत की शङ्का भी नहीं हो सकती । जैसे वटवृक्ष के बीज में सम्पूर्ण - शाखा, प्रशाखा, फल, फूल आदि रहते हैं, वैसे ही वे सम्पूर्ण परमात्मा में अवस्थित हैं ।[4] यदि जन्यत्व अभाव के कारण आत्मा को अकर्ता माना जाता है, तो भी उस में अपूर्णता का दोष आ जाता है ।[5] तो इस में भी कर्तृत्व ज्ञान के बिना अकर्ता कहने से एकाङ्गी दोष हो जाएगा ।[6]

---

1. कर्तृत्वज्ञानसहितोऽप्यकर्ता यदि चेद्भवान् ।
   पूर्णकर्ता चित्स्वरूपः साम्प्रतं भासि सुन्दरः ।। {आ॰वि॰ - 6/11}
2. यथा कर्ताहमित्येतत् तथाकर्ताहमित्यपि ।
   कर्तृताकर्तृते हित्वा ज्ञानं ज्ञानतयापृथक् ।। {आ॰वि॰ 6/12}
3. " अपूर्णत्वं प्रसज्येत स्वकारेन्यतरस्य तु " । {तदेव - 6/13}
4. ज्ञानवद् ज्ञानतो भिन्नो नास्त्येवेति सुनिश्चितम् ।
   लेशतोऽपि न शङ्कात्र द्वैतस्य समुदेति हि ।। {तदेव - 6/14}
5. कर्तृत्वाभाववान् नायमकर्ता किं तु सोच्यते ।
   अकर्ता यस्य कर्ता नो विद्यते इति चेन्मतम् ।। {तदेव - 6/1-}
6. तदेवोत्तरमत्रापि कर्तृत्वज्ञानमन्तरा ।
   अकर्तृत्वज्ञानमेव नोदेतीति पुनर्मम ।। {तदेव - 6/1-}

सिद्धमत में आत्मा के पूर्णकर्ता और चिलास-स्वरूप होने से जड़ता का दोष कभी नहीं आता है । अत: जिस की कल्पना से कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों प्रकाशित होते हैं अर्थात् सत्ता, चिता तथा आनन्दता मिलती है, उस कल्पक की पूर्णकर्तृता निराबाधित सिद्ध हो जाती है ।[2] । इसलिए ये परस्पर विरुद्ध दोनों जिस स्वयं- सिद्ध महासत्ता रूप परमतत्त्व के होने से ही प्रकाशित होते हैं, वह सच्चिदानन्दस्वरूप एवं पूर्णकर्ता सिद्ध होता है।[3] सम्पूर्ण वेद शास्त्रों का भी तात्पर्य आत्मा के पूर्णकर्ता होने में ही है । अपेक्षित तथा एकाङ्गी विकल केवल कर्ता अथवा अकर्ता होने में नहीं[4]। निरपेक्ष अकर्तृत्व अथवा कर्तृत्व परिपूर्ण कर्तृत्व ही होता है । इस तत्त्व को भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता में समझाया है ।[5] प्रत्युत - आद्य गुरु शङ्कराचार्य का " ब्रह्म सर्वशक्तिस्वरूप" कहना भी उनके द्वारा आत्मा को पूर्ण कर्तृत्व को माने जाने का द्योतक है[6]। इसी प्रकार योगवासिष्ठ रामायण

1· अस्मन्मते जडत्वं न कदाप्यापतति ध्रुवम् ।
आत्मन: पूर्णकर्तृत्वात् स्वचिलासस्वरूपिण: ।। § आ·वि·- 6/17 §

2· यस्य कल्पनया भात: कर्तृत्वाकर्तृते उभे ।
निराबाधा कल्पकस्य न सा किं पूर्णकर्तृता ।। § तदेव - 6/18 §

3· अत एतद् द्वयं यस्य सत्तयैव प्रकाशते ।
सच्चिदानन्दस्वरूपं वदाम: पूर्णकर्तृतत् ।। § तदेव - 6/19 §

4· श्रुतिनामपि सर्वेषां तात्पर्यं पूर्णकर्तरि ।
एकाङ्गविकले तत्र नाकर्तरि न कर्तरि ।। § तदेव - 6/20 §

5· यदेव पूर्णं कर्तृत्वमकर्तृत्वं तदेव हि ।
एतत्स्वयं भगवता प्रोक्तं तत्त्वं किरीटिने ।। § तदेव - 6/20 §

6· " अस्तितावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम् ।
सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम् ।। ।" § ब्र·सू·शां·भा·1/1/1 §

में "ब्रह्मर्षि "वशिष्ठ द्वारा श्रीराम से ब्रह्म के विषय में कहा गया है । [क]
जैसे सम्पूर्ण संख्याओं से अतीत अथवा सम्पूर्ण संख्याओं में रहने वाली एकरूप संख्या परमात्मा की द्योतक है, उसी प्रकार कर्तृत्व और अकर्तृत्व सापेक्ष भावों से अस्पृष्ट एवं उनमें व्याप्त होने से उन की अधिष्ठानरूप पूर्ण कर्तृत्व व्याप्त होती है।[1] शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त प्रपञ्च को अपने विलास से सतत् अभिव्यक्त करता हुआ भी वास्तव में अद्वितीयरूप होने से स्वात्मा द्वयापेक्षी कर्तृत्व लेश से रहित सदा स्वतन्त्रपरिपूर्ण कर्ता है ।[2] तात्पर्य यह है कि शिव पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्व स्वपना तारतम्य से अभिव्यक्त करता है । वस्तुतः यह सम्पूर्ण तत्त्वरूप प्रपञ्च उसका अपना स्वरूप ही होते हैं, इनको अनेक प्रकार से प्रकाशित करना ही उस की क्रिया होती है । अतः सृष्टि, स्थिति, संहार निग्रह [भेद प्रकाशन] तथा अनुग्रह [अभेद प्रकाशन] - ये पाँचों कृत्य क्रिया शक्ति में अन्तर्हित रहते हैं । जो सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञान शक्ति एवं वह इच्छा शक्ति दिखाई देती है । इन तीनों का पूर्ण सामरस्य ही विलासस्वरूप है तथा विलास आत्मस्वरूप है । अतः इस मत में " प्रकाशित हो रहा है" तथा "आनन्द स्वरूप है " । इसी कारण अनन्त इस के नामरूप हैं । परन्तु यह सम्पूर्ण कहना सुनना एक ही वस्तु का है । अतः वस्तुतः सारा ही आत्म - स्वरूप है ।

क. " सर्वशक्तिः परब्रह्म " [यो. वा. रा., 3/100/5]

1. यथा सङ्ख्यात्मिका सङ्ख्या परात्मन्येकरूपिणी ।
कर्तृताकर्तृतास्पृष्टा तथैवं पूर्णकर्तृता ॥ [आ. वि. - 5/22]

3. कुर्वन् सदैव वसुधादिशिवान्ततत्त्वरूपं प्रपञ्चमखिलं स्वविलासमात्रात् ।
कर्तृत्वलेशरहितः खलु योऽद्वितीयः स्वात्मा सदैव ननु राजति पूर्णकर्ता ॥
[तदेव - 5/24]

मल विचार :- प्राय: शैवशास्त्रों में कारण, सूक्ष्म और स्थूल भेद से क्रमश: आणव, मायीय तथा कार्मरूप में मलों का त्रिविध वर्गीकरण पाया जाता है। वास्तव में आत्मा परिपूर्ण है, परन्तु जीव रूप में अपने आप को अपूर्ण समझना ही आणव मल कहलाता है। आत्मा एक और अभिन्न है, परन्तु जीव का अपने आप को भेद दृष्टि से देखना और समझना ही इसका मायीय मल कहलाता है। जीव के शरीर से, इन्द्रियों से और मन से जो कर्म किए जाते हैं, उनके विषय में उसे यह अभिमान भी रहता है कि यह " कर्म मैं करता हूँ " और उन कर्मों का संस्कार भी उसे रहता है। यह कर्मों के प्रति कर्तृत्व का संकुचित अभिमान और उनका संस्कार कार्म मल कहलाता है, जो जन्म - मरण का साक्षात्कारण होता है।

वस्तुत: देखा जाए तो - ये तीन ही हैं - ऐसी कोई बात नहीं है। साधारणतया समझाने के लिए ही तीन भाग किए जाते हैं; वास्तव में यह अथवा वह अपने आत्मानन्द का उल्लासमात्र ही है।[1] तात्पर्य यह है कि शैवशास्त्रों में मलों की त्रिविधता का अभिप्राय यह नहीं है कि वह तीन से अधिक भी नहीं अथवा तीन से न्यून भी नहीं। ये मल आत्मस्वरूप ही होने पर भी कल्पित अनात्मभाव के दार्ढ्य के तारतम्य से अनन्त प्रकार के हो जाते हैं। वह परमसत्ता सर्वथा परिपूर्ण, मुक्त और स्वतन्त्र होने पर भी अपने आप कल्पित की गई मलिनता से मलिन-सी जीवभाव को प्राप्त हुई संसारित्व को प्राप्त हो जाती है।[2] तात्पर्य यह है कि वस्तुत: देखा जाए तो आत्मस्वरूप के अतिरिक्त किसी वस्तु की शङ्का ही नहीं हो सकती, तो पुन: उसका होना या न होना सम्भव ही नहीं ? जिसका होना या न होना प्रतीत होता है एवं जिसकी चर्चा की जाती है, वह वस्तु ही होती है। इस कारण मल भी आत्म-स्वरूप ही होता है। परन्तु जैसे घट वस्तुत: मिट्टी होने पर भी अपने व्यावहारिक

---

1. मलानां त्रितयं कैश्चित् स्वग्रन्थे प्रतिपादितम् ।
   वास्तवं नैव तत् किन्तु स्वानन्दोल्लास एव सः ।। (आ०वि० - 5/20)

2. स्वात्मकल्पितमालिन्यमलिनो जीवतां भजन् ।
   मुक्तोऽपि बद्ध इव सन् संसारित्वं प्रपद्यते ।। (तदैव - 5/2)

आनन्द के लिए उसे मिट्टी न कह कर घट इत्यादि नामरूपों से ही बोध किया या कराया जाता है । अर्थात् व्यवहार में सद्वस्तु (कारणरूप) को छिपाकर असद्वस्तु (कार्यरूप) से ही काम लिया जाता है । इसका कारण एक यह भी है कि यदि व्यवहार में भी वस्तु सत्ता को प्रकट कर दिया जाए तो व्यवहार ही मिट जाएगा । स्वर्णकुण्डलवत् व्यवहार सम्पूर्ण अनेकता पर निर्भर है । तथा वह मूल कारण भी व्यवहार से पृथक् नहीं एवं आत्मस्वरूप से भी पृथक् नहीं । ऐसा होने पर भी अपने आप आत्मदेव एक नई कल्पना मल रूप से करता है, जैसे स्वर्ण की आत्मभूत शक्ति कुण्डल का रूप धारण कर लेने पर ग्राहक की दृष्टि में अथवा पहनने वाले की दृष्टि में वह कुण्डल दिखाई देती है और सोना उसको नहीं कहा जाता । तथापि स्वर्णत्व उस का नष्ट नहीं होता । इसलिए यह आत्मा अपनी कल्पना से अपने आप में सब कुछ होता हुआ भी न होने के समान या कुछ भी न होता हुआ होते हुए के समान है ।

तत्त्व विचार : सांसारिकता को प्राप्त होती हुई यह आत्मा मलों के तारतम्य के सोपानक्रम से शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त अभिव्यक्त होती है[1] । अर्थात् जब यह सर्वदा प्रकट रहने वाली भी अपने आप को संसारीभाव से आभासित करती है, तब इस को अनन्त कोटि विश्व का व्यवहार करने के लिए अवरोहण - आरोहण लीला अपनानी पड़ती है । मलों के तारतम्य से जिस में मल की स्थूलता अधिक (विकसित) है, वह सोपान (तत्त्व) निचला तथा जिस में मल का विकास न्यून हो अर्थात् आत्मस्वरूप की सत्ता विशेष प्रकट हो, वह ऊपर वाला सोपान कहा जाता है । ये सोपान (तत्त्व) (वैशेषिकों) के [illegible]

1\. संसारित्वं प्रपन्नोऽयं मलानां तारतम्यतः ।
शिवादिक्षितिपर्यन्तैः सोपानैरवरोहति ॥ (आ॰वि॰ - 5/3

2\. क॰ धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ (वै॰सू॰ - 1/1/4

ख॰ " द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेष समवायाभावाः सप्तपदार्थाः
(अन्नभट्ट कृत - तर्क संग्रह

जैसे पितामह अपने पौत्र को खिलाने की प्रक्रिया में उस के समान स्वयं भी तुतलाकर बोलने में आनन्द अनुभव करता है, जबकि उस में इस प्रकार करने से कोई तुतलेपन का विकार नहीं आता है।[1] आत्मा का नैर्मल्य स्वाभाविक होने से वह इसे कभी भी छोड़ती नहीं है; क्योंकि मलिनी - भाव कृत्रिम होने से कभी भी उसे मलिन नहीं कर सकता[2], जैसे आकाश के नीले मेघों द्वारा आच्छादित होने पर उस पर नीलता का आरोप किया जाता है और मेघों के दूर होने से उसकी स्वच्छता पुन: झलकने लगती है[3] अथवा जैसे जपाकुसुम के सान्निध्य से स्फटिक मणि लाल दिखाई देने पर भी अपनी सहज स्वच्छता को नहीं छोड़ती है।[4] अथवा जैसे सूर्य की किरणों के एक ओर गंगाजल को और दूसरी ओर विष्ठा को स्पर्श करने पर भी सूर्य अपनी पवित्रता को नहीं त्यागता है।[5] अथवा जैसे अग्नि पवित्र अपवित्र सब का भक्षण करते हुए भी पवित्र रहता।[6] अथवा जैसे वायु सुगन्धि और दुर्गन्धि का वहन करता हुआ भी अपनी पवित्रता को नहीं छोड़ता है[7] उसी प्रकार आत्म - स्वरूप पूर्ण निर्मल है । तथा यह बात भी इस से अनायास स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्णमल (छत्तीस मल अथवा तत्त्व)आत्मदृष्टि से मल हैं ।

1· पितामह शिशुं पौत्रं रञ्जयन् लोहलो भवन् ।
स्वानन्दं विन्दते किन्त्वत् तद्वदात्माऽपि निर्मल: ।। (आ·वि·-5/16)

2· कृत्रिमान्मलिनीभावज्जातु किं मलिनीकृतम् ।
नैसर्गिकं सुनैर्मल्यं स्वीयं स्वात्मा समुज्झति ।। (तदेव - 5/5)

3· यथाकाशो नीलनीलैर्मेघैर्नीलीकृतोऽपि सन् ।
मोक्षपाये पुन: स्वच्छस्तद्वदात्मापि निर्मल: ।। (तदेव - 5/6)

4· जपाकुसुम सान्निध्यमात्रतो लोहितीकृत ।
सहजां स्वच्छतां जातु नोज्झति स्फटिको मल: ।। (तदेव -5/7)

5· यैरेव किरणै (सूर्यो गाङ्गमम्बु स्पृशत्यहो ।
विष्ठामपि स्पृशंस्तैस्तु स्वप्रायत्यं किमु ।।

6· पवित्रमपवित्रं वा ज्वलन: सर्वमप्यदन् ।
सर्वपूत: पावकाण्यां वहन् लोके विराजते ।। (तदेव - 5/9)

7· सुगन्धं दुष्टगन्धं वा मारुत: सर्वतो दिशम् ।
नयन्नपि स्वयं स्वीयं पावित्र्यं विजहाति किम् । (तदेव - 5/10)

जीवन्मुक्त : अतः परिपूर्ण नैर्मल्य अथवा स्वातन्त्र्य को जीवित अवस्था में ही प्राप्त करने वाला साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। वह अपने विलास से सम्पूर्ण कर्मों को सर्वदा करते हुए अपने को दीपक के समान साक्षीमात्र समझते हुए व्यवहार करता है।[1] उसको शुभ अथवा अशुभ कर्म बांध नहीं सकता है; क्योंकि वह सभी कर्म आत्मज्ञानपूर्वक करता है।[2] पूर्णनैर्मल्य का ऐसा महात्मय है कि उस में स्वात्मविज्ञान की विश्रान्ति से सैकड़ों ब्रह्महत्या जीव करने पर भी उसका उससे स्पर्श नहीं होता।[3] । जैसे चन्द्रमा दुर्गन्धित जल से भरे हुए गड्डे में अपनी छाया को गिराते हुए भी कभी दुर्गन्धित नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा का सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु से होने पर भी वह निर्मल होने के कारण उसको कभी भी कोई दोष नहीं लगता, इसीप्रकार किसी ज्ञानी पुरुष को किसी पाप से स्पर्श नहीं होता।

अतः आचार्य के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि परिपूर्ण स्वातन्त्र्य, परिपूर्ण चैतन्य, परिपूर्ण कर्तृता, परिपूर्ण नैर्मल्य अथवा परमसत्ता की अभिव्यक्ति स्वात्मप्रत्यभिज्ञान से ही होती है। तथा यह स्वात्मप्रत्यभिज्ञान श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की उपसना - शुश्रुषा से ही सम्भव होता है। अतः परमसत्ता का अनुग्रह अथवा शक्तिपात स्वयं अथवा गुरु के रूप में होने से ही जीव को आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। यह

---

1. स्वविलासेन सर्वाणि कुर्वन्कर्माणि सर्वदा ।
   दीपवत्साक्षिमात्रोऽयं व्यवहाराय कल्पते ।। { आ०वि० - 5/14 }
2. न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म बन्धाय कल्पितम् { तदेव - 5/15 }
3. स्वात्मविज्ञान विश्रान्तो ब्रह्महत्याशतैरपि ।
   न जातु स्पृश्यते पूर्ण नैर्मल्यमिदमेव हि ।। { तदेव - 5/1.. }
4. तुषारकिरणो गर्ते दुर्गन्धिजलपूरिते ।
   दुर्गन्धित्वं भजति किं स्वच्छायां पातयन्नपि ।। {तदेव - 5/..}

अनुग्रह की दैवी प्रेरणा सत्शास्त्र के अभ्यास के रूप में भी हो सकती है, जिससे आत्मतत्त्व का बोध हो जाता है।[1] इस से वह साधक अपने हृदय में अपने स्वरूप - विलास से उल्लासित विश्वरूप आहुति का अनुपम चिद्रूपाग्नि में होम करके अपने विलासरूपी पूर्णानन्द - अमृत का पान करने से पूर्ण नैर्मल्य को प्राप्त हुआ सर्वोत्कृष्ट रूप से शोभित होता है।[2]

बन्ध - मोक्ष (पशुता - शिवता) :- प्राय: सभी दर्शनों में बन्ध और मोक्ष के विषय में विचार किया गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त त्रिविध दु:खों के भंवर में जीव गोते खाता रहता है। सभी उस से छुटकारा पाना चाहते हैं। अत: दु:खमय संसृतिचक्र ही बन्धन और उससे छुटकारा ही मोक्ष माना जाता है। जहां पर चार्वाकादि स्थूल दर्शनों में शरीर से छुटकारा पाना ही मोक्ष माना गया,[3] वहीं वेदान्त जैसे सूक्ष्म दर्शन में स्वात्मा को ब्रह्मरूप में जानना (अनुभव करना) मोक्ष माना गया है।[4]

आत्मविलास के अनुसार एक ही पारमार्थिकसत्ता आत्मा (परमसत्ता) को माना गया है, जो परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से समन्वित है। अपने इस स्वातन्त्र्य (विलास) के ऐश्वर्य से ही स्वेच्छापूर्वक वह अन्तर्मुखी

---

1. क. सद्गुरूपासनाप्राप्त पूर्ण नैर्मल्य निश्चयात् ।
   स्वानन्दकारणं पूर्णनैर्मल्यमनुभूयताम् ।। (आ॰वि॰ - 5/23)

   ख. श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठत: ।
   विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा ।। (तदेव - 3/23)

2. निजसहजविलासोल्लासितां विश्वरूपा -
   मनुपमचितिवह्नावाहुतिं होमयन्त: ।
   निजविलसितपूर्णानन्दपीयूषपाने -
   रधिहृदि विजयन्ते पूर्णनैर्मल्य भाज: ।। (आ॰वि॰ - 5/24)

3. "मरणमेव अपवर्ग" (चा॰ सू॰ - 13)

4. य एवं वेद अहंब्रह्मास्मीति,
   स इदम् सर्वम् भवति ।।। (बृहद॰ 1/4/10)

और बहिर्मुखी लीला करती रहती है । अन्तर्मुखी लीला में स्वातन्त्र्य का विकास होता है और बहिर्मुखी लीला में पारतन्त्र्य का विकास । यह स्वातन्त्रता ही सुख का मूल होती है और परतन्त्रता ही दु:ख का आधार[1] अत: यह स्वतन्त्रता ही शिवता है और परतन्त्रता ही जीवता । शिव को ही पशुपति कहते हैं और जीव को ही पशु ।[2] क्योंकि वह कलादि पाँच कञ्चुकों से बंधा हुआ ही परतन्त्रता के कारण पशु की भान्ति कष्ट पाता है । इसलिये यह परतन्त्रता ही बन्धन और त्याज्य है ।[3] यह परतन्त्रता का भाव भी आत्मा का स्वेच्छा से अवकल्पित भाव होता है, जिसके सतत मनन से वह जीवता के भाव को प्राप्त कर लेती है । इसीलिये ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सभी परतन्त्रता के कारण जीवभाव का अनुभव कर रहे हैं ।[4] चूंकि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त सभी पराधीन हैं और परिपूर्ण स्वातन्त्र्य केवल परमसत्ता में ही है[5]। इसीलिये पूर्ण सुख की इच्छा से पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये । क्योंकि वह ही पूर्ण सुखप्रदा है ।[6] वास्तव में जीवता और शिवता सापेक्ष होने के कारण

---

1. " दु:खमूलं पारतन्त्र्यं सुखमूलं स्वतन्त्रता " (आ॰वि॰, 3/2)
2. स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता ।
   शिव: पशुपति: प्रोक्तो जीव: पशुरितीर्यते ।। (तदेव - 3/5)
3. दण्डप्रहार: पशुभि: सह्यन्ते हि निरन्तरम् ।
   पारतन्त्र्यादेव ततो हेया हि परतन्त्रता ।। (तदेव - 3/6)
4. ब्रह्मादिस्थावरान्तं हि जीवतामश्नुते चिरात् ।
   परतन्त्रत्वभजनं जीवताप्राप्तिकारणम् ।। (तदेव - 3/4)
5. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यद्विलासवशानुगम् ।
   स्वप्रकाश: स भगवान् स्वतन्त्र: परमार्थत: ।। (तदेव - 3/3)
6. सुखाप्तिवाञ्छा हृदये वर्तते यदि यत्नत: ।
   पूर्णस्वतन्त्रताप्राप्त्यै सैव पूर्णसुखप्रदा ।। (तदेव - 3/7)

निश्चित रूप से अपारमार्थिक है और स्वात्मा द्वारा ही अपने स्वातन्त्र्य से कल्पित होती है ।[1]

इसलिये इन दोनों अवस्थाओं में अतीत, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द स्वरूप और पूर्णाहन्ता ही पारमार्थिक है ।[2] इस प्रकार स्वेच्छा से महेश उस उस (जीवता - शिवता) को चाहता हुआ अपने स्वातन्त्र्य के विलास से उस को प्राप्त हो जाता है ।[3] इसलिये जन्म - मरण तथा जीवता कल्पित मात्र है, इस समस्त - प्रपञ्च को स्वात्म रूपता से अनुभव करने से परमानन्द अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है ।[4]

लौकिक व्यवहार में भी सुख - दुःख को जिस प्रकार से कोई संकल्पित कर लेता है, उस को उसी प्रकार से उस का अनुभव होता ही है ।[5] पारमार्थिक रूप तो स्वात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । अतः इस दर्शन के अनुसार बन्ध और मोक्ष भी स्वात्मा द्वारा प्रकल्पित ही हैं । जब साधक स्वात्मविज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है, तो कल्पना के बन्धन से दुःख का अनुभव नहीं करता । इसीलिये इस दशा में उस को मोक्ष की उपेक्षा भी

---

1. [illegible] ।
   [illegible] ॥ ([illegible] - 3/8)
2. अवस्थाद्वितयाऽतीतं परिपूर्णं किमप्यहो ।
   सच्चिदानन्दस्वरूप महन्तार्वं तदस्म्यहम् ॥ (तदेव - 3/9)
3. सापेक्षतत्तत्स्वातन्त्र्यमहिमान: स्वयं प्रभु: ।
   सापेक्षमेव लभते स्वातन्त्र्यं स्वविलासत: ॥ (तदेव - 3/10)
4. कल्पिते जन्मनिधने कल्पिता जीवता तथा ।
   स्वात्मविज्ञानमात्रेण विलाप्य सुखमश्नुताम् ॥ (तदेव - 3/11)
5. सुखं दुःखं च तत्तस्य यथा येन प्रकल्पितम् ।
   परमार्थतया स्वात्माऽतिरिक्तं वस्तु नास्ति हि ॥ (तदेव - 3/16)

नहीं रहती । क्योंकि जहां दो वस्तुएं होंगी, वहीं हान [जीव भाव का त्याग] और उपादान [शिवता की प्राप्ति] की उपेक्षा रहती है । परन्तु परिपूर्ण अद्वैत तत्त्व स्वात्म मात्र में हान उपादान की कल्पना कैसे हो सकती है ?[1] इसीलिये परिपूर्ण स्वात्मविज्ञान होने पर सर्वोत्कृष्ट स्वात्म महेश्वर अपने विलास से स्वरूपचिदाग्नि में स्वकल्पित विश्वरूप की हवि का हवन करके अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को आत्मसात् करके अपने परिपूर्ण माहेश्वर्य की स्थिति में परमानन्द का अनुभव करता है ।[2]

कर्म - अकर्म विचार

एवं

पूर्ण नैर्मल्य स्वातन्त्र्यप्राप्ति का उपाय

स्वात्म - प्रत्यभिज्ञान : आचार्य के अनुसार कर्म चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ न्यायपूर्वक हो अथवा विपरीतभाव से हो, वह मायाक्षेत्रवर्ती होने से बन्ध बांधने वाला ही होता है[3]। इसलिये कर्मों के अनुष्ठान से पूर्ण नैर्मल्य कभी प्राप्त नहीं हो सकता है । उस की अभिव्यक्ति तो अद्वैत तत्त्व के विज्ञान में निष्णात होने पर अर्थात् स्वात्म - स्वरूप के विज्ञान के निश्चय से ही होती है ।[4] इस लिए आचार्य के अनुसार कर्माकर्म का विचार भेददर्शी मूढ़ों के लिए ही है, परन्तु स्वरूप - विज्ञानी पण्डितों के लिए कभी नहीं[5] । तात्पर्य यह है

---

1. स्वात्मविज्ञानसम्पूर्णः कल्पनाबन्धनान्न हि ।
   दुःखं समश्नुते तस्मान्मोदाऽपेक्षा कथं भवेत् ॥ [आ॰वि॰ - 3/1?]
2. चिद्वह्नौ स्वविलासेन कल्पितं विश्वकं हविः ।
   हुत्वा भजन् स्वमानन्दं जय स्वात्ममहेश्वरः ॥ [तदेव - 3/13]
3. न्याय्यं वा विपरीतं वा कर्म बन्धाय कल्पितम्
   अद्वैततत्त्वविज्ञाननिष्णातानां कथं भवेत् ॥ [तदेव - 5/15]
4. कर्मानुष्ठानतो नैव नैर्मल्यं पूर्णमाप्यते ।
   स्वात्मस्वरूपविज्ञाननिश्चयात्तत्तु लभ्यते ॥ [तदेव - 5/11]
5. कर्माकर्मविचारो हि मूढानां भेददर्शिनाम् ।
   स्वे स्वरूपविज्ञानां पण्डितानां न जात्वपि ॥ [तदेव - 5/17]

कि पूर्ण निर्मलता कर्मों के करने से नहीं मिलती, कर्म कैसा भी हो, विहित हो या अप्रतिषिद्ध, नित्य हो, या नैमित्तिक हो, ऐसे ही ब्रह्मोक्त हो, स्मार्त हो या रागप्राप्त हो, कैसा भी हो, उस से पूर्ण निर्मलता नहीं आ सकती । ऐसे ही यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि निष्काम भी कर्म, कर्म - बुद्धि से किया हुआ यदि हो, तो वह भी पूर्ण निर्मलता को नहीं दिला सकता । पूर्ण निर्मलता तो अपने आप आत्मस्वरूप के अनुभव की दृढ़ता से ही मिल जाती है। अर्थात् एक ही उपाय है, वह यह कि आत्मस्वरूप का वास्तविक अनुभव करना । इस से यह न समझना चाहिए कि कर्मकाण्ड व्यर्थ है । कर्म - काण्ड का एक - एक अक्षर भी ठीक है । किन्तु उसका तात्पर्य यह नहीं कि पूर्ण निर्मलता को कर्म प्राप्त कराते हैं, वे तो काल्पनिक निर्मलता को ही पैदा करते हैं। इसी प्रकार कर्मकाण्ड में निषिद्ध कर्म भी पूर्ण निर्मल को अशुद्ध नहीं बना सकते । किन्तु अशुद्ध को ही कुछ अधिक अशुद्ध बना देते हैं । वस्तुतः अशुद्ध को अधिक अशुद्ध बनाना अथवा काल्पनिक अशुद्ध को काल्पनिक शुद्ध बनाना, ये दोनों भी कल्पित ही हैं । तात्पर्य यह है कि पूर्ण ज्ञानी के लिए सभी एकरस होने के कारण सम्पूर्ण व्यवहार, भले ही वह व्यवहारी पुरुष की दृष्टि से कुछ भिन्न सा दिखाई पड़े, तो भी उस की अपनी कोई हानि नहीं । इसीलिए वह परिपूर्णज्ञानी पूर्ण निर्मल होता है, जो अपने वास्तविक स्वरूप के अनुभव की पूर्ण दृढ़ता से ही प्रत्यभिज्ञात होता है । क्योंकि पवित्र अथवा अपवित्र वस्तु कल्पित ही होने से आत्मरूपी अग्नि में जला देने से वह तत्काल पवित्र हो जाती है । अर्थात् कालाग्नि से लेकर चरम - कला पर्यन्त विश्व का संहार अर्थात् देहात्मता और बाह्यता से अवस्थित रहने पर भी परसंविद्रूपी अग्नि में तद्रूप हो जाती है ।[1] जैसे निर्मल अथवा समल सोने को अग्नि में जलाने से उसकी निर्मलता अथवा समलता पृथक् नहीं जानी जा सकती है ।[2] उसी प्रकार

1· पवित्रमपवित्रं वा वस्तु कल्पितमेव यत् ।
पवित्रयं भजते सद्यः स्वात्मवह्नौ विलापनात् ।। (आ·वि·- 5/12)

2· निर्मलं समलं वापि हेम वह्नौ विलापितम् ।
पृथक्तया ज्ञायते किं निर्मलं समलं पुनः ।। (तदेव - 5/13)

निर्मल (शुभकर्म) तथा समल (अशुभ कर्म) किसी भी वस्तु का आत्मसात् करने पर वह पूर्ण निर्मल ही हो जाती है। अतः स्वात्मा (परमसत्ता) के चिदानन्द और परिपूर्ण स्वातन्त्र्य का – अनुभव करने के लिए स्वात्मप्रत्यभिज्ञान से बढ़कर और कोई उपाय नहीं माना गया है। आचार्य के कथनानुसार जीवभाव (जीवोऽहम्, परतन्त्रोऽहम्) जितना दृढ़ हो, मुमुक्षु को उसके परिष्कार (शिवभाव की प्राप्ति (शिवोऽहम्, स्वतन्त्रोऽहम्) के लिए उतना ही दृढ़कार्य स्वरूपविज्ञान के लिए करना चाहिये।[1] क्योंकि जिस प्रकार परमसत्ता द्वारा पारतन्त्र्य का अनुसन्धान करने से जिस प्रकार वह पारतन्त्र्य (पशु आदि भाव) की प्राप्त होती है, उसी प्रकार स्वतन्त्रता के अनुसन्धान से उस (जीवभाव) का तत्क्षण विनाश हो जाता है। अर्थात् शिवभाव की प्राप्ति हो जाती है।[2] आत्मा की इच्छा शक्ति के महात्म्य की ऐसी ही बात उपनिषदों में भी मिलती है।[3] परमार्थतः स्वात्मविज्ञान ही स्वतन्त्रता का द्योतक होता है और इस से भिन्न विज्ञान तो पारतन्त्र्य ही कहा गया है। ऐसा ज्ञान एक श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु से प्राप्त हो सकता है। क्योंकि वही साधक को उसके श्रोत्रियत्व और ब्रह्मनिष्ठत्व – रूप का ज्ञान करवा सकता है, जिससे अपने सच्चिदानन्दरूप का अनुभव सदा होने लगता है[4]। इस ज्ञान की परिपक्व अवस्था में साधक जगत् को अपने विलास से सम्पादित समझता हुआ विश्वरूपी होम-द्रव्य का आत्मस्वरूप – चिद्रूपी अग्नि में हवन करके स्वात्ममहेश्वरता के

---

1. जीवभावे दृढ़े यत्नो दृढ़ कार्यो मुमुक्षुभिः ।
   विज्ञानाय स्वरूपस्य चोपायोऽस्ति ततः परम् ।। (आ॰वि॰ – 3/17)
2. पारतन्त्र्यानुसन्धानात् सम्प्राप्तं पारतन्त्र्यकम् ।
   स्वतन्त्रतानुसन्धानं विनाशयति तत्क्षणात् ।। (तदेव – 3/[illegible])
3. क॰ " खलु क्रतुमयो नरः " (छा॰उप॰ – 3/14)
   ख॰ यथा कामः तथाचारी " (बृहद॰उप॰ – 4/4/[illegible])
4. श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वं श्रोत्रियाद् ब्रह्मनिष्ठतः ।
   विज्ञाय सच्चिदानन्दरूपे विहरतां सदा ।। (आ॰वि॰ – [illegible])

अपने आनन्द का अनुभव करता है ।

इति तृतीयाध्याय

---

1. चिद्गहनौ स्वविलासेन कल्पितं विश्वकं हरि :।
हुत्वा भजन् स्वमानन्दं जय स्वात्ममहेश्वर! ॥ [आ॰वि॰ :3/13]

चतुर्थ अध्याय

अमृतवाग्भवाचार्य और कश्मीर शैव दर्शन

परमसत्ता की अनुकम्पा से जगत् कल्याणार्थ द्वैतरूपी अज्ञान-अन्धकार को दूर करने के लिए जिस अद्वैत ज्ञान का समय - समय पर स्वयं भैरव -भैरवी के रूप में अथवा श्रीकण्ठादि के रूप में, सिद्ध दुर्वासा आदि के रूप में अथवा वसुगुप्त, भट्टकल्लट, सोमानन्द, उत्पलदेव, लक्ष्मणगुप्त, अभिनवगुप्त तथा क्षेमराज आदि शैवाचार्यों के रूप में प्रचार - प्रसार किया गया, वह अद्वैत शैव सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। इस दैवीपरामृतस्वरूप ज्ञान का आविर्भाव कश्मीर की पावन वसुन्धरा पर होने से इसको कश्मीर शैव दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन को ईश्वराद्वयवाद, अद्वयवाद, शैवाद्वैतदर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञादर्शन भी कहते हैं। इसका आगम, स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा संज्ञक साहित्य सारतत्त्व को पूर्ण समृद्ध, विकसित एवं परिपक्व सिद्धान्त के माध्यम से प्रतिपादित करता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के सुविख्यात तीर्थ-शिरोमणि प्रयागराज में आचार्य अमृतवाग्भव का प्रादुर्भाव हुआ, जो कुमारावस्था में ही भगवती त्रिपुरासुन्दरी के विशेषानुग्रह के पात्र होने से सिद्ध दुर्वासा द्वारा शाम्भवी दीक्षा से दीक्षित हुए। इसी के बल पर उनको आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत्, बन्ध - मोक्ष आदि के रहस्यों का साक्षात् ज्ञान हुआ था। उन्होंने गुरु, शास्त्र और स्वात्मानुभूति के प्रतिभबल से उपलब्ध हुए अद्वैतज्ञान का अपने मौखिक उपदेशों और स्वरचित अनेक कृतियों के रूप में प्रचार - प्रसार किया। इनमें से विशेष ख्यातिलब्ध "स्वात्मविलास" रचना है, जिस में आत्मा के स्वातन्त्र्य की महिमा सहित अनेक बन्ध - मोक्ष, जीव - जगत् - विद्या - अविद्या आदि के गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया

गया है । आचार्य इस में प्रतिपादित सिद्धान्त को शैवसिद्धान्त सम्मत कहते हैं । अतः कश्मीर शैव दर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्तों का ही इस में अधिक व्यापक एवं सरल, तर्क-संगत तथा सुबोध स्पष्टीकरण किया गया है ।

अद्वैत शैवी शास्त्रों में परमसत्ता को प्रकाश और विमर्श अथवा शिव और शक्ति का सामरस्य माना गया है ।[1] जिस प्रकार जल से शीतलता और अग्नि से उष्णता को पृथक् नहीं किया जा सकता है ।[2] उसी प्रकार शिव शक्ति से कभी पृथक् नहीं होता । यहाँ पर परमेश्वर को प्रकाशात्मा तो माना जाता है, परन्तु यह प्रकाश विमर्श स्वभाव माना गया है और इनका कहना है कि यदि परमेश्वर दर्पण (घट) आदि की तरह विमर्श रहित होता, तो अनीश्वर होने से जड़ तुल्य ही होता ।[3] महाकवि कालिदास ने रघुवंशम् में इसी तथ्य को शब्द और अर्थ[4] तथा आद्यगुरु शंकराचार्य ने शिव और शक्ति के एकत्व के रूप में अभिव्यक्त किया गया है ।[5]

आचार्य ने भी आत्मविलास में परमसत्ता के स्वरूप का ऐसा ही चित्रण किंचित् अधिक स्फुट ढंग से करते हुए कहा है कि आत्मा (परमसत्ता) विलास से और विलास आत्मा से पृथक् नहीं होता है ।[6] यथार्थ में विलास

---

1. "न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी" (शि॰दृ॰-3/2)

2. न हिमस्य पृथक् शैत्यं नाग्नेरौष्ण्यं पृथग्भवेत्" (शि॰दृ॰-3/7)

3. क. इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा प्रकाशश्च विमर्श स्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण चाकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम् । यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत । (परा॰प्र॰पृ॰-1)

   ख. अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः । महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ।। (तं॰आ॰ 3/100)

4. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
   जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।। (रघु - 1/4)

5. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
   न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।। (सौ॰लह॰- 1/1)

6. "विलासो न स्वतो भिन्नो विलासदपि न स्वयम्" (आ॰वि॰-2)

को ही शक्ति कहा जाता है और व्यवहार में इसी को शिव - शक्ति नाम से अभिहित किया जाता है । अत: शक्तिमान् और शक्ति में पूर्ण अभेद माना गया है ।[1]

उन्होंने अपनी रचना "श्रीसिद्धमहारहस्य" में शिव - शक्ति के सामरस्य के औचित्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो शाक (शक्तिमान्) होता है, वह ही काश (शक्ति) होता है, जो काश होता है वह ही सर्वथा शाक होता है । क्योंकि जो प्रकाशित होता है, वह ही समर्थ होता है और जो समर्थ होता है, वह प्रकाशित होता है ।[2]

आत्म - परमेश्वर के अस्तित्व को कश्मीर शैव दर्शन के आचार्यों ने स्वयंसिद्ध माना है और उसकी सिद्धि अथवा निषेध के लिए किसी भी प्रमाण को अस्वीकार किया है ।[3] क्योंकि प्रमाण स्वयं आत्मसत्ता पर अवलम्बित होता है[4] और यह उसी तरह परमसत्ता को पार पाने में असमर्थ है जैसे शिर की छाया को पांव द्वारा लांघना असम्भव है ।[5] ऐसी ही बात ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य में शङ्कराचार्य द्वारा कही गई है ।[6] आचार्य ने भी आत्मा (परमसत्ता)

---

1. सोऽयं विलास एवास्य शक्तिरित्युदितो बुधैः ।
   शिव शक्तिस्वरूपाभ्यां व्यवहाराय कल्पते " ।। (भा・वि・/2/)
2. शाकः काशश्च काशस्य शाको भवति सर्वथा ।
   यः काशते स शक्नोति यः शक्नोति स काशते ।। (सि・म・र・का・-20 पृ 7)
3. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
   अजड़ात्मा निषेधं वा・ सिद्धिं वा विदधीत कः ।। (ई・प्र・वि・का・1/1)
4. तस्यापि स्वप्रकाशचैतन्याधीनसिद्धकत्वात् " (शि・सू・प्र・13)
5. स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लङ्घितुमीहते ।
   पदोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैन्दवी कला (त्रि・ह्र・-शि・सू・पृ13)
6. " या एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् " (ब्र・सू・शा・भा・-2/3/7)
   " अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः " (तदेव - 1/1/1)
   " सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति " (तदेव)

के अस्तित्व को स्वतः सिद्ध अभिव्यक्त किया है और उसका निषेध करने वालों पर कटाक्ष करते हुए कहा है कि उन्हें ऐसा करने से पहले अपने अस्तित्व (आत्मा) को तो मानना ही पड़ता है। यही "आत्मविलास" की महिमा है।[1] इस तथ्य को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक मूर्ख व्यक्ति को भी अपने न होने की प्रतीति नहीं होती है, प्रत्युत वह छोटे मोटे कार्यों को अहन्ता के अभिमानपूर्वक ही अभिव्यक्त करता है।[2] पिता - पुत्र इत्यादि परस्पर विरोधी धर्मों का अधिष्ठान होने से भी उसकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।[3] प्रत्युत पिता - पुत्रादि विरोधी धर्मों से व्यवहृत होने पर शरीर से भी पृथक् नहीं होता तो, आत्मा से कैसे पृथक् हो सकता है।[4]

कश्मीर शैव दर्शन में परमसत्ता को विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय माना गया है।[5] इस में जगत् की सत्यता का प्रबल समर्थन पाया जाता है। परमशिव के विश्वोत्तीर्ण (प्रकाशमय) रूप में जगत् अर्थात् प्रमाता - प्रमेय रूप सकल - प्रपञ्च प्रकाशभाव (ऐक्यभाव) से ही अवस्थित रहता है।[6] परन्तु जब सृष्टि रचना की इच्छा से अन्तःस्थित जड़ - चेतन प्रपञ्च को

---

1. आत्मने भावाभिच्छन्तोऽप्यात्मसत्तां हि स्फुटम्। (आ.वि. - 2/8)
   अङ्गीकुर्वन्ति नो चित्रं स्वविलासोऽयमेव भोः ।।
2. नाहमस्मीति मूढोऽपि नात्मनि प्रतिपद्यते ।
   किं तु व्यापारकर्तृत्वमात्मन्येवाभिमन्यते ।। (तदेव - 2/9)
3. पितृभ्रातृसुतभ्रातृकलत्रादिशुहृज्जनैः ।
   संसृष्टः पुरुषः पुत्रादित्वमेकोऽपि विन्दति ।। (तदेव - 2/10)
4. पुत्रादित्वादिकं सोऽयं नित्यं त्वनुभवन्नपि ।
   शरीरेणापि भिन्नो न दृश्यो हि स्वात्मना कुतः ।। (तदेव - 2/11)
5. विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादि दर्शन विदः । (प्र.हृ.पृ. -50)
6. क. तदुत्तीर्णशिवभट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूपा एव भावाः ।
   (प्र.हृ.टी.सू. -9)

अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से बाहर (भेद से) अभिव्यक्त करते हैं, तो यही उनका विश्वमयरूप कहा जाता है।[1] अत: इस से स्पष्ट है कि जगत् भी शक्तिरूप है, अत: सत् है।[2]

आत्मविलास में भी परमशिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय रूप का उल्लेख मिलता है। जिसके अनुसार एकमात्र परमार्थसत्ता (आत्मा) परमशिव ही है।[3] और वह ही अपने विलास से अपने आप को शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है।[4] परन्तु ऐसा होते हुए भी परिच्छिन्न (भेद, अनेकत्व) प्रकाश से अवभासित होने के कारण जगत् को जड़ कहा जाता है। परन्तु अपरिच्छिन्न (परिपूर्ण) प्रकाशमय होने के कारण आत्म - परमेश्वर चेतन (चिद्रूप) कहा जाता है। वैसे भी परमसत्ता द्वारा जगत् का प्रकाशन होने के कारण वह स्वतन्त्र अतएव चैतन्यरूप है और जगत् का प्रकाशकत्व उसके अधीन होने के कारण वह परतन्त्र एतएव जड़रूप है।[5]

अद्वैत शैवदर्शन में परमसत्ता की स्वातन्त्र्यशक्ति का अभिन्न रूप ही माया अथवा महामाया को माना गया है अतैव वह भेद (संकोच)

---

1. यथा न्यग्रोधबीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम: ।
   तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ।। (परा॰त्रि॰श्लो॰ - 24)
2. चिदात्मैव हि देवोन्त: स्थितमिच्छावशाद्बहि।
   योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत ।। (ई॰प्र॰ 1;5,6)
3. स्वात्मानं स्वविलासेन विश्वरूपेण भासयन्।
   नित्योदित: कोऽपि देवो ज्यत्यात्मा पर: शिव: ।। (आ॰वि॰ 2/1)
4. संसारित्वं प्रपन्नोऽयं मलानां तारतम्यत: ।
   शिवादिक्षितिपर्यन्तसोपानेरवरोहति ।। (आ॰वि॰ 3/3)
5. क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी सकलार्थ गर्भिणीप्रधाना ।
   परमार्थपदे तु नैव देव्या भवतो नाऽपि जगत्त्रयस्य भेद: ।। (शि॰स्तो॰ 8/2)

रूप में जगत् का उल्लासन करने वाली उस की एक शक्ति ही है । चूँकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता अतएव वह उस से अभिन्न है । इस लिए इस दर्शन में पूर्ण अद्वैत ही सिद्ध होता है ।[1]

आत्मविलास में भी बिल्कुल इसी तरह का भाव पाया जाता है । आत्मा की स्वातन्त्र्य शक्ति जिसे यहां पर विलास कहा गया है, उसी की अभिन्नशक्ति महाविद्या अथवा महामाया माना गया है और वही सत् और असत्रूप जगत् की उल्लासिका है । इस प्रकार हम यहां पर भी महामाया को परशिव की शक्ति ही पाते हैं ।[2] अतः इससे भी शिवाद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि मिलती है ।

शैवदर्शन के अनुसार सर्वथा परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र चिदात्मा परमेश्वर के स्वरूप सहित शक्तियों में संकोच अर्थात् परतन्त्रभाव अवभासित होना ही उस का पशुभाव कहा जाता है । एवं अपने स्वरूप के ज्ञान सहित शक्तियों का विकास हो जाना ही पुनः शिवभाव की अभिव्यक्ति कहा जाता है।[3]

इसी प्रकार आचार्य ने आत्मविलास में परिपूर्ण स्वातन्त्र्य को ही शिवता और उस के विपरीत परतन्त्रता के भाव को ग्रहण करना ही जीवता कहा है ।[4] शिवभाव अथवा पशुभाव की अभिव्यक्ति के पीछे स्वात्म-

---

1. यः परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्य शक्त्या भासित स्वरूप गोपनरूपा संकोचवभासिता । (शि॰सू॰भा – 1)

2. स्वविलासस्वरूपा सा विद्याऽविद्या प्रकाशिनी ।
महाविद्या महामाया परिपूर्णा जयत्सौ । ।। (आ॰वि॰ 4/1)

3. क॰ "चिद्वत्तच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी : (प्र॰हृ॰ – सू – 9)
ख॰ " तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव । (प्र॰हृ॰सू॰ 9)

4. स्वतन्त्रतैव शिवता जीवता परतन्त्रता ।
शिवः पशुपतिः प्रोक्तो जीवः पशुरितीर्यते ।। (आ॰वि॰ – 3/5)

महेश्वर के विलास अर्थात् स्वातन्त्र्य की महिमा से होने वाले आनन्द को ही कारण बताया है ।[1] वह परतन्त्रता के अनुसन्धान से परतन्त्र अथवा पशु हो जाता है और स्वतन्त्रता का अनुसन्धान करने से पशुपति हो जाता है ।[2]

शैव शास्त्रों में विद्या, ज्ञान अथवा बोध का अपरिमितरूप माने जाने से वह चेतन कही गई है जिस से स्वात्म - परमेश्वर का प्रत्यभिज्ञान होता है । तथा अविद्या अथवा अज्ञान जगत् का (अर्थात् भेद का) प्रकाशन करने के कारण परिमित रूप होने से जड़ कही गई है । यहाँ पर अविद्या (अज्ञान) से परिपूर्ण विद्या (ज्ञान) का अभाव रूप नहीं, अपितु उसका परिमितरूप है ।[3] वास्तव में परमसत्ता की ऐश्वर्य शक्ति अर्थात् स्वातन्त्र्य - शक्ति का ही ये दोनों विलास हैं । अभिप्राय यह है कि जब स्वातन्त्र्य शक्ति पशुभाव में स्वात्म रूप का प्रकाशन करती है, तो विद्या शक्ति कहलाती है और जब इस के विपरीत स्वात्म - ऐश्वर्य का तिरोधान अभिव्यक्त करती है, तो माया अथवा अविद्या शक्ति कहलाती है ।[4]

आचार्यामृतवाग्भव ने भी पूर्ण प्रकाश को ही चैतन्य और अपूर्ण प्रकाश को ही जड़ कहा है, न कि प्रकाश के अभाव को[5] । यहाँ पर भी

---

1. एवं स्वात्मा विलासेन कल्पितैः पाशबन्धनैः ।
   जीवभावं भजन् कश्चिदानन्दं विन्दते मुहुः ।। (आ० वि० - 3/22)
2. पारतन्त्र्यानुसन्धानात् सम्प्राप्तं पारतन्त्र्यकम् ।
   स्वतन्त्रतानुसन्धानं विनाशयति तत्क्षणात् ।। (तदेव - 3/20)
3. परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।
   जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते ।। (बौ० पं० - 8)
4. तस्यैश्वर्यस्वभावकस्य पशुभावे प्रकाशिका ।
   विद्याशक्तिस्तिरोधानकारी मायाविद्य पुनः ।। (ई० प्र० का - 3/7)
5. " अपूर्णं जडमित्युक्तं पूर्णं चैतन्यमुच्यते " (आ० वि० - 3/7)

स्वात्म-प्रकाशिका मानी गई है ।[1] और अविद्या जगत् - प्रकाशिका ।[2] यहाँ पर भी विद्या और अविद्या को परमसत्ता के विलास (स्वातन्त्र्यशक्ति, महाविद्या, परिपूर्णकर्तृता, परिपूर्ण चैतन्य) द्वारा ही उल्लासित होना अभिव्यक्त किया गया है ।[3]

स्वात्मा के उल्लास द्वारा प्रकाशित होने के कारण कुछ विद्वानों को आचार्य के विद्या और अविद्या दोनों को चेतन तथा पुन: दोनों को ही क्रमश: एकाङ्गी स्वात्म प्रकाशन मात्र तथा जगत् प्रकाशन मात्र करने से जड़ भी माने जाने के सिद्धान्त में[4] आपत्ति हो सकती है। क्योंकि ऐसा शैवशास्त्रों में संकेत नहीं मिलता है । जैसा कि अभिनवगुप्त को बोधपञ्चदशिका में भी स्पष्ट कहा गया है कि अपरिच्छिन्न प्रकाश को चेतन कहते हैं ।[5] इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि जहां तक विद्या और अविद्या के प्रकाशन का प्रश्न है वे तो शैव शास्त्रों में भी और आत्मविलास में भी स्वात्मपरमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति से ही अवभासित होनी मानी गई है । जो विद्या और अविद्या को एक प्रकार से चेतन और दूसरे प्रकार से जड़

---

1. " स्वात्मप्रकाशकत्वेन विद्या" (आ० वि० - 3/4)
2. जगत्प्रकाशकत्वेनाविद्या" । (तदेव - 3/4)
3. " विलासोल्लासितत्वेन विद्याऽविद्ये " (तदेव - 3/2)
4. विलासोल्लासितत्वेन विद्याविद्ये तु चेतने ।
   अपूर्णत्वाज्जडे ते स्तो जडाजडे इमे तत: ।। (आ० वि० - 3/2)
5. तस्मात्मा तु पराविद्या यस्मादन्या न विद्यते ।
   विन्दते ह्यत्र युगवत्सार्वज्ञादि गुणान्परान् ।।
   वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना । वर्जनापरमात्त्वेतस्माद्विद्येति सोच्यते ।।
   तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेज: परं परमकारणम् ।
   परस्मिस्तेसि त्यक्ते तत्रस्थ: शिवतां व्रजेत् ।। (स्वच्छ० स० वि०, अ० - 4/396, 97)

भी माने जाने की आशङ्का है, उसके परिहार में कहा जा सकता है कि, कश्मीर शैवाचार्यों ने भी जहाँ विद्या (ज्ञान) से अभिप्राय पराविद्या (सद्विद्या, सहजविद्या, महाविद्या) के रूप में लिया है, जो परिपूर्ण शिव - चैतन्य की प्रकाशिका होती है,[1] वहीं विद्या से माया (अविद्या, अज्ञान) भी लिया है ।[2]

अतः शैव शास्त्रों में विद्या और अविद्या दोनों, को केवल "ज्ञान से ही सम्बोधित कर लिया गया है और आचार्य ने इसकी स्वरूपप्रकाशन वाली एक विद्या को विद्यारूप और दूसरी जगत् - प्रकाशिनी को अविद्या से सम्बोधित कर लिया है । सम्भवतया आचार्य की विद्या - अविद्या की अवधारणा शैवाचार्यों के मत को और स्पष्ट करने के लिये ही इस प्रकार व्यक्त की गई है । जैसे उत्पलदेव के अनुसार विद्या को सद्विद्या नाम से सम्बोधित किया जाना इसलिए उचित है कि इसकी दशा के अनुभावक (मन्त्रेश्वर, विद्येश्वर) संसारी दशा से उत्तीर्ण होते हैं । तथा विद्या को माया कहना इसलिए उचित है कि इसमें बोध के होते हुए भी भेद का प्रकाशन रहता है ।[3]

प्रसिद्ध कश्मीर शैवाचार्य सोमानन्द ने (शिवदृष्टि" में कहा है कि जिस प्रकार एक चक्रवर्ती राजा सब प्रकार के बल, ऐश्वर्य इत्यादि से युक्त होते हुए भी अपनी इच्छा से पैदल चलता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी स्वातन्त्र्य इच्छा से अपने आनन्द के लिए ही शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के रूप में, शिव से सकल पर्यन्त सात प्रमाताओं के रूप में, बन्ध

---

1. आत्मव्याप्त्यन्तस्य मोहस्यजयात् उन्मना शिवव्याप्त्यात्मनः सहजविद्यायाः प्राप्तिरुक्ता " -(उद्धृत शि॰सू॰ भूमिका पृ॰ - 55

2. " ज्ञानं बन्धः " (शि॰सू॰ 1/2)

"ज्ञानाधिष्ठानम् मातृका" (तदेव - 1/4)

3. बोधकर्तृतामयस्यापि भेदेन विश्वेक्षण विद्यैतिकीर्तित ।
मायाशक्तिरप्येषा विद्येव । संसारोत्तीर्णत्वात् तत्रस्था मन्त्रेश्वराविद्येश्वराः ।। (ई॰प्र॰का॰वि॰पृ॰ -16)

रूप में, मोक्ष रूप में, कर्तृता - अकर्तृता एवं इन के आधाररूप परिपूर्ण कर्तृता के रूप में, समलता, निर्मलता तथा इनके परिपूर्ण नैर्मल्य रूप में, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय रूप मे त्रिविध मलो, षट् कञ्चुकों के रूप में और इससे जकड़ित पशु के रूप में, शाम्भवादि उपायों से प्रत्यभिज्ञात आत्मस्वरूप पति के रूप में, गुरु के रूप में अथवा अभिकथा कहा जाए - सभी रूपों में अपने आप को अभिव्यक्त करता है[1]।

इसी प्रकार श्रीमद्‌अमृतवाग्भव ने आत्मविलास में कहा है कि आत्म -परमेश्वर अपनी ऐश्वर्य [स्वातन्त्र्य, विलास [शक्ति से अपने आनन्द के लिए ही जीवता, शिवता; बन्ध - मोक्ष, स्वतन्त्रता, परतन्त्रता नाना रूप जगदात्मा से अभिव्यक्त होता है ।[2]

इसी प्रकार हम देखते हैं कि काश्मीर शैव दर्शनाचार्यों के जहां पर दैवी ज्ञान का स्रोत साक्षात् शिव अथवा सिद्ध दुर्वासा रहे है, उसी प्रकार अमृतवाग्भवाचार्य के शैवी ज्ञान के मूल स्रोत भगवती पराशक्ति त्रिपुरा - सुन्दरी एवं सिद्ध दुर्वासा रहे है । यही कारण है कि काश्मीर शैवाचार्यों के सिद्धान्तों एवं अमृतवाग्भव आचार्य के सिद्धान्तों में पर्याप्त समता उपलब्ध होती है । प्रत्युत आचार्य ने अपने प्रतिभाबल से अद्वैत शैवी सिद्धान्तों को सरल, सुस्पष्ट एवं तर्कसंगत- रूप से व्याख्यात किया है । जिस से सामान्यजन भी सुगमता से उन्हें हृदयङ्गम कर सकता है । अत: आचार्य का अपनी कृतियों के माध्यम से काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों को सम्यक् एवं तर्कसंगत रूप से प्रतिपादित करने में महान् योगदान है ।

---

1. "यथा नृप: सार्वभौम: प्रभावामोदभावित:"
   क्रीडन् करोति पादातधर्मस्तद्धर्मधर्मत: ।
   तथा प्रभु: प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।। [शि॰दृ॰ -1/33, 34 [
2. क॰ " आनन्दरूपता चास्य जगद्भासनहेतुना " [आ॰वि॰ - 2/15 [
   ख॰ एवं स्वात्मा विलासेन कल्पितै: पाशबन्धनै: ।
   जीवभावं भजन् चिदानन्द विन्दते मुहु : [आ॰वि॰ -3/22 [

सहायक ग्रन्थसूची

क्रमाङ्क	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशन	संस्करण
1.	आत्मविलास	अमृतवाग्भवाचार्य	एस.एन. मंगोत्रा प्रिंटिंग प्रैस, जम्मू ।	द्वि.सं. 2039 वि.
2.	आनन्द भैरव	आगम	मोती लाल, बनारसी दास, दिल्ली ।	प्र.सं. 1918
3.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर ।	प्र.सं. 1910
4.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत सीरीज़, श्रीनगर ।	प्र.सं. 1938, 41, 47
5.	ईश्वर प्रत्याभिज्ञा - विमर्शिनी	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत सीरीज़, श्रीनगर	प्र.सं. 1918
6.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	प्र.सं. 1949
7.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	मोती लाल, बनारसी दास वाराणसी	प्र.सं. 1928
8.	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर	प्र.सं. 1963
9.	नागानन्द नाटक	श्रीहर्ष	मोती लाल, बनारसी दास	
10.	न्याय दर्शन	गौतम	चौखम्बा सं.सी. वाराणसी	प्र.सं. 1983
11.	न्यायसूत्रवात्स्यायन-भाष्य	वात्स्यायन	- उपरोक्त -	

12.	पातञ्जलयोग दर्शन	पतञ्जलि	चौखम्बा संस्.स. वाराणसी ।	तृ.सं. 1980
13.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	क्षेमराज	चौखम्बा विद्या, भवन, वाराणसी	चतुर्थ सं. 1982
14.	परात्रिंशिका	अभिनवगुप्त	कश्मीर संस्.ग्रन्थावली श्रीनगर ।	प्र. सं. 1963
15.	बोधपञ्चदशिका	अभिनवगुप्त	- उपरोक्त -	- उपरोक्त -
16.	बृहदारण्यकोपनिषद्	निगम	गीता प्रैस, गोरखपुर	प्र.सं. 1949
17.	ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य	शङ्कराचार्य	मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, बिहार	द्वि.सं. 1980 तृ. सं. 1977
18.	भगवद्गीता	महर्षि वेद व्यास	गीता प्रैस, गोरखपुर	तृ. सं. 1902
19.	याज्ञवल्क्य स्मृति	याज्ञवल्क्य	चौखम्बा संस्.स. वराणसी	तृ. 1985
20	मालिनीविजय तन्त्र	आगम	कश्मीर सं. ग्रन्थावली; श्रीनगर	प्र. 1922
21.	रघुवंश	कालिदास	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली ।	चतु. सं. 1970
22.	शिवदृष्टि	सोमानन्द	कश्मीर संस्.ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1934
23.	शिवदृष्टिवृत्ति	उत्पलदेव	- उपरोक्त -	प्र.सं. 1934
24.	शिवसूत्र	वसुगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास- दिल्ली, वाराणसी पटना, मद्रास।	प्र.सं. 1928

25.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, वाराणसी पटना, मद्रास	द्वि.सं. 1983
26.	शिवसूत्र विमर्शिनी	क्षेमराज	कश्मीर सं. ग्रन्थावली श्रीनगर	प्र.सं. 1911
27.	स्वच्छन्द तन्त्रविद्योत	क्षेमराज	- उपरोक्त -	प्र. 1941-47
28.	स्पन्दकारिका	वसुगुप्त	- उपरोक्त -	- उपरोक्त
29.	श्रीसिद्धमहारहस्यकारिका	अमृतवाग्भवाचार्य	गवर्नमेंट मैनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी, भण्डा. ओरि. इं. पूना - 7	प्र.सं. 1934
30.	सौन्दर्य लहरी	शङ्कराचार्य	कलकत्ता संस्करण।	
31.	सांख्य कारिका	ईश्वरकृष्ण	- उपरोक्त -	द्वि.सं. 1904
32.	योगवाशिष्ठरामायण	वाशिष्ट	मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली	1983
33	वेदान्तसार	सदानन्द	- उपरोक्त	उपरोक्त

अन्य सहायक ग्रन्थ सूची

34.	कश्मीरशैवदर्शन	डा. बलिज्जनाथ पण्डित	श्री रणवीर केन्द्रिय सं. विद्यापीठ जम्मू	प्र.सं. 1923
35.	कश्मीर शैवदर्शन और कामायनी	डा. भंवर लाल जोशी	नेशनल पब्लिक हाउस दिल्ली।	प्र.सं. 1969
36.	कश्मीर शैविज्म	जे. रूद्रपा	निर्देशक प्रसरङ्गमना गंगोत्री मैसूर	प्र.सं. 1969
37	शैविज्म	जे.सी. चेटरजी	कश्मीर सं. सीरिज श्रीनगर	प्र. 1935
38.	अभिनवगुप्त एक ऐतिहासिक एवं दार्शनिक अध्ययन।	डा. के.सी. पाण्डेय	चौखम्बा सं. सं. वाराणसी	द्वि. 1963

39. भारतीय दर्शन	कुंवरलाल जोशी	इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली	प्र.सं. 1980-81
40. भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	- उपरोक्त -	प्र.सं. 1976
41. भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	- उपरोक्त -	प्र.सं. 1978
42. भारतीय दर्शन	जे.एन.सिन्हा	विनोद पुस्तक मन्दिर रांगेय मार्ग आगरा	प्र.सं. 1978
43. भारतीय दर्शन	राम कृष्ण आचार्य	- उपरोक्त -	प्र.सं. 1966
44. शोध प्रबन्ध	डॉ. जगीर सिंह	स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू	1985

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः